UNIVERSAL
LIBRARY

OU_180738

UNIVERSAL
LIBRARY

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. H82/S61Dh Accession No. G.H.226

Author सिंह राधिका रमण प्रसाद

Title धर्म की धुरी 1953

This book should be returned on or before the date last marked below.

धर्म की धुरी

[नाटक]

लेखक
राजा राधिकारमण प्रसाद सिंह, एम० ए०

श्री राजराजेश्वरी साहित्य मन्दिर
पटना ६

प्रथम अङ्क

प्रथम दृश्य

१९४७ साल

[वैष्णव मठ मन्दिर का चौड़ा सहन—महंत संतसरन जी आसनी पर बैठे हैं—वहीं फर्श पर और लोग भी बैठे हैं। रामदास जी जमीन पर अलग बैठे हैं।]

संतसरन०—लो भई, सभा तो खत्म हुई। अब किसी को कुछ जानना-सुनना हो तो फिर पूछ ही ले—आरती में देर नहीं।

एक बूढ़े सज्जन—महाराज, चारों धाम तो हम कर आये पर अपने प्रियतम का पता कहीं न पाया। अब कहिये, कोई कैसे ढूँढ़े ·····कहाँ ढूँढ़े ?

संतसरन०—अच्छा रामदास जी, छेड़ो तो वह पते की चीज, वही इस प्रश्न का हल ठहरा।

रामदासजी—अच्छा जी, जैसी मर्जी—*(गाते हैं—नेपथ्य से हारमोनियम)*

तू ढूँढता जिसे है मन्दिर में, तीर्थ, वन में
—मूरत में, रूप गुन में
वह मोहना सलोना रमता है मन के मन में।
वह दृश्य का है द्रष्टा,
इस दृश्य का भी स्रष्टा।
आनन्द का है सोता,
घट घट में व्याप्त सत्ता।
खुल खिल रहा है नित वह चैतन्य के चमन में।
वह एक है अकेला
वही ज्ञान ज्ञेय ज्ञाता।
वही राम गॉड अल्ला—
क्या दैर हरम गिरजा।
हर जीव का सहारा, आये जो उस शरन में॥

प्रथम अङ्क

प्रथम दृश्य

१९४७ साल

[वैष्णव मठ मन्दिर का चौड़ा सहन—महंत संतसरन जी आसनी पर बैठे हैं—वहीं फर्श पर और लोग भी बैठे हैं। रामदास जी जमीन पर अलग बैठे हैं।]

संतसरन०—लो भई, सभा तो खत्म हुई। अब किसी को कुछ जानना-सुनना हो तो फिर पूछ ही ले—आरती में देर नहीं।

एक बूढ़े सज्जन—महाराज, चारों धाम तो हम कर आये पर अपने प्रियतम का पता कहीं न पाया। अब कहिये, कोई कैसे ढूँढ़े ····कहाँ ढूँढ़े ?

संतसरन०—अच्छा रामदास जी, छेड़ो तो वह पते की चीज, वही इस प्रश्न का हल ठहरा।

रामदासजी—अच्छा जी, जैसी मर्जी—*(गाते हैं—नेपथ्य से हारमोनियम)*

तू ढूँढता जिसे है मन्दिर में, तीर्थ, वन में
—मूरत में, रूप गुन में
वह मोहना सलोना रमता है मन के मन में।
वह दृश्य का है द्रष्टा,
इस दृश्य का भी स्रष्टा।
आनन्द का है सोता,
घट घट में व्याप्त सत्ता।
खुल खिल रहा है नित वह चैतन्य के चमन में।
वह एक है अकेला
वही ज्ञान ज्ञेय ज्ञाता।
वही राम गॉड अल्ला—
क्या दैर हरम गिरजा।
हर जीव का सहारा, आये जो उस शरन में॥

वकील सा०—मगर आज तो अपना राम अपना अल्लाह लेकर दोनों ओर वह धमा-चौकड़ी मची है कि क्या कहे कोई।

संतसरन०—हाँ भई, हमारे साथ जो अपनापन का दौर दून पर है, अपना धर्म, अपना समाज, अपना कल्चर, अपनी ज़बान, यह अपना-अपना जाने क्या-क्या—इस अपनापन के हाथों अपनी आत्मा की गिरवी तो आपस की खींच तान के काँटे बो रही है। और लीजिए, यह ऐसा 'मैं, तू और वह' का चक्कर खड़ा है कि आत्म-भाव या भाई-भाई की पहचान तो दूर, बस अपना और पराया ही दिखता है हर क्षेत्र में।

वकील सा०—मगर कैसे न दिखे, कहिये। ग़ैर ग़ैर ही है—अपना अपना ही।

संतसरन०—अजी, कोई अपना है न ग़ैर। अपनी-अपनी नजर का खेल है बस। मनुष्य सबसे पहले मनुष्य है, उसका जन्म मनुष्य का जन्म है, उसका जीवन मनुष्य का जीवन, उसकी मौत मनुष्य की मौत। मनुष्य होने के बाद ही वह किसी देश का नागरिक है, किसी धर्म या समाज का मेम्बर, किसी परिवार का प्राणी, किसी माँ-बाप का बेटा। बस, यह अपनापन की लगी लिपटी ठहरी कि कहाँ हम कितने में होते, कहाँ रह जाते हैं इतने में।

लहना सिंह—मगर किसी और को देखने-सुनने की गुंजाइश भी हो आज।

संतसरन०—क्यों नहीं! वह दिल ही क्या जिसमें दर्द न हो और वह आँख ही क्या जिसमें पानी न हो। अपने को देखते हो, देखो, जरूर देखो—मगर अपने ही को देखते न रह जाओ, अपने पड़ोसी को भी पल भर देख लो, उसके सुख-दुख से आँखें फेर न रखो। समझा—आखिर जो कुछ तुम अपने लिए उससे चाहते हो, वही तुम उसके लिए भी बराबर चाहो। है न? अच्छा, फिर किसी दिन''''लो मन्दिर में आरती होने लगी।

(नेपथ्य में आरती के घंटे की ध्वनि—सब खड़े हो जाते हैं। आरती बन्द होते ही सब मिलकर गाते हैं।)

रघुपति राघव राजा राम
पतित पावन सीता राम
ईश्वर अल्लाह तेरो नाम
मन्दिर मस्जिद तेरो धाम
सबको सन्मति दे भगवान

(सब जै राम जी पुकारते हैं और चले जाते हैं। सिर्फ पौर पर दो-चार खड़े रह जाते हैं)

राय सा०—*(लहना सिंह से—बड़ी धीमी ध्वनि में)* कुछ सुना, यह मियाँ मुल्ले की ज़बान पर भी जैराम की धुन।

लहना सिंह—*(धीमी आवाज़ में—फुसफुसा कर)* बस वही 'मुँह में राम बगल में छूरी'—है न ?

राय सा०—बेशक, बेशक।

संतसरन०—*(जाते हुए अहमद की ओर रुख कर)* चले कहाँ ? ठहरते नहीं आज।

अहमद—ज़रा जा रहा हूँ उस पार। सुना है कि नये लीडर नूरा मियाँ बड़े तैश में हैं।

संतसरन०—तुमसे गरज ?

अहमद—उस रात कुन्दन को जो निकाल लाया उनके पंजे से—क्या जाने इसीलिए भुने बैठे हों।

संतसरन०—अच्छा, यह बात है ! क्षमा नहीं—बदला !

अहमद—क्या कहें—पता नहीं। मगर लीडरी की गर्मी न बड़ी वैसी होती है।

संतसरन०—कोई बात नहीं। तुम पर क्या आँच आयेगी भला ?

अहमद—बस हुज़ूर का ही तो साया ठहरा—नहीं तो...

संतसरन०—अच्छा लौटते कब हो ?

अहमद—यही एकाध दिन में। जै राम जी !

संतसरन०—जै राम।

(अहमद जाता है)

राय सा०—*(महंत जी के सामने आकर)* मैं कुछ पूछ सकता हूँ ?

संतसरन०—हाँ-हाँ, कहिये।

राय सा०—यह अपनी ज़बान, अपना कल्चर तो खैर जो है सो है—मगर अपना धर्म तो अपनी जान से भी प्रिय ठहरा।

संतसरन०—(*मुस्करा कर*) ज़रूर, मगर उस प्यार का मतलब पड़ोस से तकरार नहीं होता।

लहना०—(*तैश से*) और कहीं अपने धर्म की पाबन्दी का तक़ाज़ा ही यह हो तो ?

संतसरन०—यह धर्म का नहीं, अधर्म का तक़ाज़ा होगा।

लहना०—सो कैसे ?

संतसरन०—मानी हुई बात है, घृणा और प्रतिहिंसा किसी धर्म का तक़ाज़ा नहीं—उसकी अवहेलना ठहरी। जानते हो, दुनियाँ के हर धर्म का निचोड़ क्या है ?

वकील सा०—कहे जाइये।

संतसरन०—एक ईश्वर—राम, अल्लाह या गॉड—जो कहो। हर आदमी उसका बन्दा, और आपस का मेलजोल-भाई-चारा। माना कि सतह पर रस्म-रिवाज और पाठ-पूजा के तौर-तरीके अलग अलग ठहरे, मगर इससे क्या ? तह की बुनियादी बातें तो दो नहीं। धर्म का प्राण ही ठहरा प्रेम—विश्वप्रेम।

राय सा०—मगर यह ताली तो दोनों हाथों बजेगी न—ज़रा उस पार भी जाकर यह प्रेम की मुरली फूँक पाते।

लहना सिंह—(*व्यंग्य से*) और क्या ? गाँधी तो बरसों फूँक चुके न। सुनी किसी ने ? रह गये आज हाथ मल कर।

वकील सा०—और बस गुम हो गई पहलू बदल कर मेल-जोल की वह पहली लहर !

संतसरन०—अजी न सुनी तो महात्मा गाँधी का क्या ? गया तो उनका।

राय सा०—(*तैश में*) उनका कब गया। गया तो हमारा···(*अपनी छाती पीटते हैं*)

संतसरन०—तुम्हारा ?

राय सा०—जी, हमारा। लुट गये हम। रहा क्या ? खड़े होने की भी जगह नहीं रही।

संतसरन०—क्षमा करें—आप का परिचय ?

राय सा०—क्या परिचय दूँ। मेरी हस्ती क्या और मैं क्या ?

वकील सा०—सरकार, यह पच्छिम पंजाब के एक माने-जाने रईस रहे—लाला गुलज़ारी लालजी। कुछ ऐसे-वैसे भी नहीं। लुट गये बिचारे। बस जान लिये इधर आ पाये—यही ग़नीमत है।

संतसरन०—सच ! यह ज़माना आ गया कि आज ऐसे-ऐसे रईस भी दो दाने चने के लिये···

वकील सा०—दिन का फेर समझिये।

संतसरन०—तो फिर दिन फिरेंगे। कभी तो आसमान साफ होगा ही।

राय सा०—अब क्या फिरेंगे महाराज ! हमारी सारी जायदाद तो पाकिस्तान में ठहरी, वहाँ अब किसी हिन्दू का गुजर कहाँ।

लहना सिंह—हाँ भई। इस देश के बटवारे पर तो कांग्रेस ने भी मुहर लगा दी—अब चारा ?

वकील सा०—क्या आज़ादी मिली है—भई वाह !

लहना सिंह—जी जिन्दगी खोई, आज़ादी पाई—क्या खूब !

संतसरन०—अरे भई—आजादी की वह मंजिल तो अभी मीलों दूर है। हाँ, बेड़ियाँ कट गईं ज़रूर, मगर पिंजड़े का पंछी पट खुला पाकर भी अभी जी खोल उड़ नहीं पाता है—रह जाता है पंख फड़-फड़ा कर।

वकील सा०—जी, यह क्षमता तो आते-आते आयेगी न।

राय सा०—(*महंत जी की ओर मुड़कर*) हाँ महाराज, आप तो बड़े संत हैं—पंडित भी।

लहना सिंह—(*हंसकर*) अजी, 'आलिम फाजिल मौलाना' भी कहो—मौलाना।

राय सा०—(*व्यंग्य से*) लीजिये, महंत जी—सुनिये, क्या-क्या कह रही है जनता।

संतसरन०—(*मुस्कराकर*) आप क्या कहना चाहते हैं, कहिए भी ?

राय०—यही अर्ज़ है कि अब यह मेल-जोल की मजलिस के दिन गये। सरासर बेवक्त की शहनाई ठहरी यह। अजब

नहीं कि गाँधी की आँखें भी अब खुल रही हों।

संतसरन०—*(मुस्कराकर)* अब! जैसे कि नई खुल रही हैं आज!

लहना सिंह—देखिये न, गाँधी भी अपनी प्रार्थना-सभा की बैठक में कुरान की आयतें सुनाते आये—मगर अब! सुनायें तो किसी दिन! ज़माना तो उनसे फिर गया आज।

वकील सा०—*(व्यंग्य से)* तो सुबह का भूला शाम तक लौट आया अपनी पौर पर।

राय सा०—अजी! लौट न पाया तो लुट कर रहेगा, देख लेना—वह गाँधी ही क्यों न हो।

संतसरन०—भला महात्मा जी की शान में ऐसे फिक़रे। शर्म नहीं आती। राजनीति और नीति का ऐसा मणि-कांचन योग कहाँ मिलने को है इस विश्व में। ऐसे ही एकाध महापुरुष से तो आज भी यह धरती टिकी जा रही है, आसमान हँस रहा है सर पर, नहीं तो कब का प्रलय आ गया होता।

राय सा०—जैसे कि प्रलय होने को बाकी है कुछ—लाखों लुट गये, हजारों कट गये और आप हैं कि सर पर आसमान हँस रहा है....क्या खूब! भला ज़माने की नब्ज़ पर गाँधी की उँगलियाँ रहतीं तो आज ये दिन देखने को पड़ते...

संतसरन०—अजी, ज़माना तो उनके एक-एक क़दम के पीछे चलता है। बस, जहाँ अपनी उँगलियाँ रख दीं वहीं जमाने की नब्ज लगी चलने—समझे?

राय सा०—आप चाहे कुछ कहें, आज तो राम और रहीम के बीच वह खाई खुद गई...

संतसरन०—खुदे नहीं। खुदी जो हावी है खुदा पर आज। अपनी गीता हो तो, कुरान हो तो, इंजील हो तो...

लहना सिंह—*(व्यंग्य से)* क्यों साहब, आप कुरान का भी पाठ करते हैं क्या? कहाँ ठहरे इस वैष्णव मठ के महन्त...

संतसरन०—तो कुरान या बाइबिल जानने में क्या रखा है?

तुम भी अपना पाते तो उनकी इज्जत ही करते बराबर

लहना सिंह—लो सुना, क्या फरमा गये—

राय सा०—(*तैश से*) जी, सुना तो। अपनाने में क्या रखा है। बड़े आये हैं सूफी सन्त जी...

लहना सिंह—(*व्यंग्य से*) तो लीजिये, पढ़िये कलमा आप भी।

राय सा०—(*हँसकर*) जी, रोज़ा और नमाज़ भी रहे—क्यों ?

वकील सा०—एक गाँधी की ही सुना किये अब तक।

राय सा०—मगर गाँधी तो कोई धर्म-गुरु नहीं। आप तो वैष्णव धर्म के माने जाने आचार्य भी ठहरे। निराला जलवा है यार। है न ?

लहना सिंह—जभी तो आप की मति-गति अपनी डफली अलग ही पीटती है ज़माने से। जाने दो, जो कुछ न हो यहाँ, कम है। भला एक हिन्दू...एक ब्राह्मण होकर...

संतसरन०—(*मुस्कराकर*) जैसे कि हिन्दू भी किसी मुसलमान या क्रिस्वान की तरह अपने एक ईश्वर-दूत और अपनी एक किताब पाक का पाबन्द है। उसकी तो छूट है—जैसी उसकी रीझ-बूझ। वेद माने तो हिन्दू, न माने तो हिन्दू, मूर्त्ति पूजे तो हिन्दू, न पूजे तो हिन्दू और लो ईश्वर माने तो हिन्दू, न माने तो भी हिन्दू—है न ? वो फिर कुरान या ईंजील भी जान ले... मान ले तो हुआ क्या ? तुम्हें पता है, महात्माजी तो एक मानी में अपने को मुसलमान भी मानते रहे...

वकील सा०—(*चौंक कर*) क्या सच ?

संतसरन०—जी, बात भी है। कुरान में पहले के सभी बड़े मजहबों को इस्लाम नाम दिया गया है, उनके मानने वालों को मुसलमान। साफ बयान है कि अगले ज़माने में भी जाने कितने धर्म-गुरु या पैगम्बर हो आये है और सबों ने अपनी-अपनी ज़बान में एक ही बुनियादी सत्य का परिचय दिया है, उसी का नाम इस्लाम ठहरा। और जो भी अपने उस धर्म-गुरु के उपदेश या उस धार्मिक किताब पर जी उड़ेल अमल करता है वह मुसलमान ही ठहरा।

राय सा०—यह तो बिलकुल नई बात सुन रहे हैं हम।

संतसरन०—जी, हज़रत मुहम्मद ने तो यहाँ तक कहा है कि उन्होंने कोई भी ऐसी नई बात नहीं कही है जो पहले की किताबों में मौजूद न हो। और जान रखो—इस्लाम तो इन्सानी बराबरी और भाई-चारा पर इतना ज़ोर देता है कि...

राय सा०—जी, वह ज़ोर तो आज पजाब का ज़र्रा-ज़र्रा ही पुकार रहा है—और चाहिये क्या!

संतसरन०—भई, मेरा मतलब इस्लाम की तालीम से है, मुसलमानों के अमल से नहीं। वैसा अमल होता, तो आज पंजाब का यह दर्दनाक अंजाम होता? बस चिराग़ लेकर ढूंढ़ो तो वैसे दो चार सच्चे मुसलमान मिलें...

वकील सा०—जी, यही तो बात है।

संतसरन०—मगर माफ करना—यही रवैया तो इधर भी है—कम या बेश। कितने हिन्दू अपनी गीता के आत्म-भाव को अपना पाते हैं, बोलो। आज तो जो है—क्या हिन्दू क्या मुसलमान—बस, अपने धर्म की रूढ़ियों की सतह पर ही तैरता रह जाता है—तह तक कभी पैठ नहीं पाता।

(मुकुन्द का प्रवेश)

संतसरन०—आओ मुकुन्द— इन्हें जान लो तुम। यह नये आये हैं उस पार से। बड़ी वैसी हैं इनको सर-बीतियाँ। अपने आप में नहीं रहे बिचारे। दिल की जलन उठ-उठ आती है ज़बान तक।

राय सा०—यह मुकुन्द जी कौन हैं, वकील साहब...?

वकील सा०—अब इन्हीं के हाथ में ठहरी इस मठ और मन्दिर की देखरेख।

लहना सिंह—*(महंत जी की ओर उंगली दिखा कर)* और आप?

संतसरन०—हम तो एक तरह से हाथ उठा बैठे हैं। पीले पात अब झरे तब झरे।

राय सा०—जै राम जी—महाराज!

लहना सिंह—जै राम जी !

मुकुन्द—जै राम—आइये, मन्दिर में आइये, दर्शन तो कर लें।

राय सा०—क्या आयें—आपके मन्दिर का तो रवैया ही कुछ अजीब है।

मुकुन्द—सो क्या ?

राय सा०—क्या कहें,—जाने दीजिये ..

संतसरन०—लो बस कहो भी....

राय सा०—आप तो जुलाहे-धुनियों को भी लाकर सर पर बिठा देते हैं—अब ऐसों के पास बैठना और आज जैसे दिन हैं ! कहाँ अपना यह हाल है कि उन्हें देख-देख कर अंगारों पर लोट रहे हैं हम।

मुकुन्द—मैं पूछता हूँ—अहमद और जाने कितने अकसर इस मन्दिर की पौर पर आकर गीता या राम की कथा सुनते हैं—यह पसन्द नहीं ?

राय सा०—भला कहीं हो सकता है कि वे दिल से राम की कथा सुनें—सीने पर हाथ रख कर भी कहें तो क्या ? राम और जानकी की खिल्लियाँ ही उड़ाते होंगे घर जाकर। आपके मठ की रैयत ठहरे, ज़बानी खुशामद कोई इनसे सीखे।

संतसरन०—तुम तो अपनी ही नज़र से न देखते हो सबको।

राय सा०—मैं क्या ? दुनियाँ ही देखती है, साहब !

(नेपथ्य में दूर से आती हुई, अल्लाहो अकबर की आवाज़)

लहना सिंह—(चौंक कर) ऐलो ! सुना ? यहाँ भी हवा पर उड़ता आ रहा है।

वकील सा०—सो क्या ?

लहना सिंह—(*एक आवेश में*) सुना नहीं—अल्लाहो अकबर का नारा ?

राय सा०—*(तैश में)* अच्छा यहाँ भी ! ऐसी मजाल ! यह राम के सीने पर अल्लाह की सवारी की बन्दिश !

मुकुन्द—भला इस पड़ोस में किसका सर ऐसा भारी हुआ है। होगी कोई यों ही पुकार...मगर जैसी अपनी भावना ठहरी—

वकील सा०—क्या जाने नदी के उस पार से ही आवाज हवे पर झूमती हुई...

लहना सिंह—वही सही—मगर ठहरी तो एक सधी-बदी चुनौती।

संतसरन०—(*मुस्कुराकर*) मैं पूछता हूँ कि अल्लाहो अकबर कहा या जै राम; बात तो एक ही रही।

राय सा०—(*जोश से*) एक ! एक-एक का जवाब है—जवाब।

संतसरन०—मगर अभी तो तुमने गाया कि

'अल्लाह ईश्वर तेरो नाम
सबको सन्मति दे भगवान'

यही वह सन्मति है ?

राय सा०—वह देखा-देखी ज़बानी थी—कुछ दिली नहीं।

संतसरन०—तो तुम कहते हो कुछ और रहते हो कुछ ? अच्छा मज़ाक है यह।

लहना सिंह—चारा ! ज़माने का दौर ही है यह आज !

वकील सा०—भई खूब ! यह अल्लाहो अकबर भी आज फसादी लीडरों के हाथों गुण्डागीरी का फतवा हो गया।

मुकुन्द—क्या दिन आ गए—आज उधर अल्लाह के नाम पर जुल्म का बाज़ार गर्म है—इधर कहीं-कहीं राम और हनुमान के नाम पर।

राय सा०—तो हम अपने राम को पुकारें नहीं इस आफत में ?

संतसरन०—पुकारो—जरूर पुकारो ! मगर भूल न जाओ—राम की हो या अल्लाह की, पुकार तो एक ही ठहरी।

राय सा०—(*तैश में*) एक कैसी ?

संतसरन०—यह लो, आज राम का नाम अरबी जबान में आया तो वह राम भी बैठे-बिठाये बदनाम हो गया। उधर अल्लाह का नाम हमारी जबान में आता है तो लीजिए वह अल्लाह भी गुमराह। क्या तमाशा है यह ! कहाँ राम और अल्लाह ठहरे एक-दो नहीं। बस तुम अपनी-अपनी जबान के हो गए—भगवान के नहीं। भगवान के होते तो आज भाई-भाई का गला न घोंटते सरे आम।

लहना सिंह—जनाब ! यही वक्त का तकाज़ा ठहरा—समझे।

संतसरन०—और दिल का तकाज़ा ?

राय सा०—पता नहीं। वह तो लोट रहा है अंगारों पर आठो पहर। बस, जमाना देखिए—ज़माना !

'ज़माने के हाथों से चारा नहीं है।
ज़माना हमारा तुम्हारा नहीं है।'

संतसरन०—ज़माना न हो अपना, मन तो अपना ठहरा। उसका दामन हम थाम रखें, तो फिर ज़माना पलटा खाता रहे—हमारा आता-जाता ही क्या है।

लहना सिंह—मगर हवा का रुख देखकर आप अपनी नाव का मुँह नहीं मोड़ते तो लीजिए·····

संतसरन०—अजी यह हवा का रुख नहीं, तूफानी बवन्डर है—बवन्डर ! इसमें तो जो पड़ा वह डूबा। समझे···

राय सा०—तो क्या चाह रहे हैं कि यहाँ सब हाथ पर हाथ दिये बैठे रहें और उस पार हमारे भाई-बिरादर लुटते-कटते रहें उन जल्लादों के हाथों। उनकी जीत और हमारी हार—यही न आपकी इस दिलदारी का अंजाम होगा।

संतसरन०—अपनी-अपनी नजर ! मैं तो समझता हूँ कि जीत तो हमारी तब होती जब इस बुराई का बदला भलाई से दे पाते।

लहना सिंह—(*जोश से*) भलाई से ! होश की दवा कीजिए—महन्त जी।

संतसरन०—अजी जोश की दवा पहले चाहिए। और क्षमा ही वह दवा है जिससे उन फसादी लीडरों की सारी फुर्ती हवा हो जाती। हिंसा से तो हिंसा की आँच बुझने से रही—उसमें नई जान पड़ जाती है जैसे। अहिंसा ही उसके विष के दाँत तोड़ पाती है—समझे·····

राय सा०—यह आपकी नीति बोल रही है या राजनीति ?

संतसरन०—हमारी अनुभूति कहो।

लहना सिंह—नहीं-नहीं··एक-एक ज़ुल्म का बदला न लिया—

ईंट का जवाब पत्थर से न दिया तो हम मर्द नहीं, ज़नखा हैं—ज़नखा। चलो उठो, छोड़ो इनको। इस गाँव का रवैया ही कुछ और है।

राय सा०—मगर मैं पूछता हूँ, कहीं उस पार के मुसलमानों के जत्थे ने इस मठ और मन्दिर पर धावा बोल दिया, तो हज़रत अहिंसा का मन्त्र लिए टापते रह जाएँगे। इस गाँव के मियाँ-मुल्ले क्या आने को हैं कभी रक्षा के लिए ? आयेंगे तो हमीं न। है कोई दूसरा सहारा ?

संतसरन०—अपना सहारा तो बस एक है—वही वह···

'एक भरोसो एकबल, एक आस विश्वास'

(राय साहब और लहना सिंह चले जाते हैं)

संतसरन०—अच्छा रामदास जी, जरा सुनाइये तो रवि ठाकुर का वह गीत—एकला चल रे'·····

राम दास—अच्छा जी, सुनिये·····

यदि तोर डाक सुने केउना आसे
एकला चल रे
एकला चल, एकला चल
एकला चल रे !
यदि गहन पथे जावार काले
केउ फिरे ना चाय
तबे पथेर कांटा रक्त मारवा चरण तले
एकला दल रे !

प्रथम अङ्क

दूसरा दृश्य

(गाँव की सड़क पर)

राय सा०—लो भई—यहाँ के वैष्णव मठ के धर्म-गुरु तो अपने ढंग के निराले निकले ।

लहना सिंह—अजी गाँधी से भी बीस ही होंगे—उन्नीस नहीं ।

राय सा०—जभी तो यहाँ के मियाँ मुल्ले ऊँचे ही होकर चल रहे हैं । *(नेपथ्य की ओर देखकर)* ऐ लो ! यह तो वही अहमद है न, अभी जिसे मन्दिर की पौर पर·····

लहना सिंह—*(उसी की ओर मुड़कर)* हाँ-हाँ, वही हज़रत हैं—वही जै राम की धुनवाले ।

(अहमद का प्रवेश)

राय सा०—'जै राम जी' अहमद भाई, कहाँ चले !

अहमद—*(चौंक कर)* ओहो ! राय साहब ! जै राम जी, बस जा रहा हूं उस पार । वहीं जहाँ नई लीडरी के जोश में चन्द ऐसे-वैसे मुसलमानों ने इस्लाम का घुर्रा उड़ा रखा है जैसे··

लहना सिंह—अजी, वे तो इस्लाम का झंडा उड़ा रहे हैं बेजोड़—'खँजर हलाल का है कौमी निशाँ हमारा' ।

अहमद—क्या झंडा उड़ाना है—इस्लाम को भी ताक पर रख छोड़े ! खूब ! भाई को भाई के लहू का प्यासा बना दिया—छत्तीस का रिश्ता । कहाँ कुरान का फरमान है कि किसी आदमी का ईमान सच्चा नहीं अगर उसका पड़ोसी उसके हाथों महफूज़ न हो ।

राय सा०—ऐसा ?

अहमद—जी ! महम्मद साहब तो अपनी नमाज में बराबर कहा करते थे कि ऐ अल्लाह ! मैं गवाही देता हूँ कि, सब आदमी भाई-भाई हैं ।

राय सा०—आपके बड़प्पन के क्या कहने! आप तो मन्दिर की पौर तक जाकर हमारी धार्मिक कथायें भी सुन आते हैं।

अहमद—सुनें नहीं—मन्दिर भी तो एक इबादतगाह ही ठहरा।···जान रखिए, हर मुसलमान का यह फर्ज़ है कि वह सारी ऐसी किताबों को अपनाये और बुद्ध, क्राइस्ट, कृष्ण ऐसे पैग़म्बरों के लिए बन्दगी तो कुरान की खास ताकीद ठहरी।

राय सा०—(*लहना सिंह की ओर मुड़कर*) सुना न, बिलकुल वही बात—क्या गुरु, क्या चेला।

अहमद—सच मानिये, आज तो जो सब का नहीं, वह अपने रब का नहीं, अपने मज़हब का भी नहीं। चाहे लाख मज़हबी बने, रह गया वह एक रस्मी कुएँ का मेढ़क·····अच्छा जी, फिर लौटकर·····

राय सा०—हाँ, हाँ, जरूर। खुदा हाफिज़।

(*अहमद चला जाता है*)

देखा, क्या तमाशा है। यहाँ तो उनकी ज़बान पर एक काफिर···तुम्हारे वैष्णव मठ के महंत तक एक सच्चे मुसलमान में ही शुमार हैं और उधर काफिरों के खून से हाथ न रंगा तो वह मुसलमान क्या। यह दूर की कौड़ी! इधर कुछ, उधर कुछ···मगर सब्ज़ी के तले कहीं मछली भी छिपी है यार··है न?

लहना सिंह—और हिन्दू बिचारे तो भोले-भाले। उधर तो हिंसा के शिकार हुए, इधर गाँधी की अहिंसा के शिकार हैं—रगों में लहू उबाल तक नहीं लेता। जब घड़ी टेढ़ी होती है तब लीजिए, बुद्धि भी जवाब दे बैठती है बड़े बड़ों की (*नेपथ्य की ओर देखते हुए*) —ऐ लो! वकील साहब भी आ रहे हैं। आइये-आइये, बड़े वक्त पर·····

(*वकील साहब का प्रवेश*)

राय सा०—लीजिए वकील साहब! यहाँ तो अपनी नाव आप खेनी ठहरी—कोई और सहारा नहीं!

वकील सा०—सो क्या ?

राय सा०—यही कि आपके महंत जी तो पतवार हाथ में लेने से रहे।

वकील सा०—कैसे पतवार लें—दो नाव पर सवार जो ठहरे।

लहना सिंह—(*तैश में*) तो वह दिन दूर नहीं कि मझधार में डूब कर रहेंगे—देख लीजिएगा।

वकील सा०—(*सोचते हुए*) कहीं हमें भी न ले डूबें साथ-साथ—यही खटका है।

राय सा०—भई, विद्या तो बे-हिसाब है उनके पास—मगर बुद्धि ?

वकील सा०—जो हो, किसी सोते को हम जगा पाते हैं—जगे को कोई क्या जगाये।

लहनासिंह—क्यों, ठोकरें देकर। फिर भी न उठे तो छोड़िये उनको। लिए रहें अपने मेल-जोल के सपने।

वकील सा०—(*कुछ सोचकर*) मगर यहाँ की जनता तो उनके सामने किसी और की सुनने से रही और वह हैं कि अपनी धुन के सामने किसी और की सुनने से रहे।

राय सा०—यह न कहिए, हर आदमी की क़ीमत होती है, वह बड़ा हो या छोटा—बस खरीदार चाहिए, खरीदार। मैं पूछता हूँ, कहाँ है वह अनमोल रत्न जिसका बाज़ार में कोई खरीदार नहीं।

वकील सा०—जी, आज की दुनियाँ का देवता पैसा है ज़रूर, मगर महंत जी तो ज़माने से निराले ठहरे, पैसे की पूछ तक नहीं—पैठ तो दूर।

राय सा०—(*उदास होकर*) फिर तो हमारा बेड़ा पार हो चुका और दे चुके हम उधर के जुल्मों का बदला.....।

वकील सा०—नहीं-नहीं, जो छोटा न कीजिए, काँटे से ही काँटा न निकाला तो फिर बात क्या ?

राय सा०—सो कैसे ?

वकील सा०—बस, महन्त दुर्गादास जी को तैयार कर देना है, वे बीड़ा उठा लें तो फिर बेड़ा पार समझिए। किसी और की एक न चलेगी।

लहना सिंह—यह नये महन्त कौन हैं आखिर ?

वकील सा०—यहीं पड़ोस के गाँव में जो दुर्गा-मन्दिर है उसी के आप सबकुछ ठहरे। उनकी लगन के क्या कहने! इधर हिन्दुओं में नई जान डाल दी है जैसे।

राय सा०—*(खुश होकर)* क्या बात है! लोहे से ही लोहा कटता है न। महंत का जवाब एक महंत ही रहे—खूब?

(ठाकुर राजकिशोर का प्रवेश)

वकील साहब—लीजिए, ठाकुर राज किशोर जी भी आ गए—आप ही ठहरे यहाँ की महाबीरी सेना के लीडर।

राय सा०—जी हाँ—मैंने नाम सुन रखा है। दर्शन भी हुआ था कल। जै राम जी!

ठा० राजकि०—जै राम जी! अच्छा, लहना सिंह जी भी हैं! घड़ा बनी है अपनी।

वकील सा०—ठाकुर साहब की मुस्तैदी के क्या कहने। मर्द हो तो ऐसा।

राय सा०—तो आप उसी दुर्गा-मन्दिर पर जा रहे हैं क्या?

वकील सा०—जी, और क्या—अपना तो वही अड्डा ठहरा। है न ठाकुर साहब? अपने काम से काम।

ठाकुर सा०—तो बस, अब बढ़े चलिए—और आप? *(राय साहब की ओर मुड़ कर)*।

राय सा०—तो हम भी आ सकते हैं साथ?

वकीलसा०—हाँ-हाँ, आइये—जरूर आइये...शौक से। आप ही न रहे तो फिर बात क्या?

ठाकुर सा०—और कल से तो आप की देखरेख में ही हमारी सारी प्रगति होगी—आप इधर क्या आये, हमारी जान में जान आई।

राय सा०—बस जीते रहो, फूलो-फलो, हम तो अपनी ओर से कुछ उठा न रखेंगे—चाहे कुछ हो।

लहना सिंह—तो फिर देर क्या—बस चले चलिए।

(सब जाते हैं)

प्रथम अंक

तीसरा दृश्य

[मन्दिर के सामने की फुलवारी]

संतसरन०—क्या है कुन्दन ! क्या ले रखा है झोली में ।

कुन्दन—चुने हुए फूल, महाराज ! माला जो गूथनी है पूजा के लिए । *(रंग-बिरंग के फूल दिखाता है झोले से)* ।

सन्तसरन०—वाह ! एक-से-एक फूल हैं । कहाँ से लाये तुम ?

कुन्दन—यहीं पास की फुलवारी से ।

संतसरन०—अरे भई—ऐसे खिले-खुले फूलों को तोड़ लेना तो जाने कैसा-सा लगता है—रह-रह कर एक अजीब-सी प्रतिक्रिया.....

कुन्दन—सो क्या महाराज ?

संतसरन०—यही कि इनमें भी तो जान है आखिर—न सही सोच-विचार की सत्ता । कहाँ खिलते खुलते, अपने रंग और सुगंध से लह-लहाते होते—कहाँ यों भरी जवानी में ही...जाने दो—अपनी-अपनी नज़र ।

कुन्दन—मगर फूल-माला ही न रही तो फिर पूजा कैसे क्या होगी—कहिए ।

संतसरन०—*(सोच कर)* भई, पूजा-वन्दना के लिए तो मन का माध्यम सुगम होता ।

कुन्दन—मन का माध्यम ?

संतसरन०—नहीं समझे । अजी हृदय के धागे में गुथी हुई आँसुओं की माला तो बे-जोड़ ठहरी ।

(ठाकुर राजकिशोर जी और वकील साहब का प्रवेश—दूसरी ओर कुन्दन का प्रस्थान) ।

ठाकुर सा०—जै रामजी महाराज! अच्छे आये आप कल, आसरा ही देखते रह गये हम सब....

संतसरन०—कैसे शामिल हों, कहो। जी जो उठ-उठकर बैठा जा रहा है।

वकील सा०—क्यों? जैसे को तैसा। है न?

संतसरन०—जी, सो तो खैर, फिर भी...

वकील सा०—कहिये भी, रुके क्यों?

संतसरन०—यही कि दो दिन में जब यह जोश का दरिया उतर जायगा तो फिर आँसुओं से मुँह धोना पड़ेगा, देख लेना।

ठाकुर सा०—लेकिन आप ठहरे हमारे एक पहुँचे हुए धर्म-गुरु। कौन है यहाँ जो इस मठ और मन्दिर का मुरीद नहीं। आप ही अगर यों जी सिकोड़ बैठे तो फिर उन जल्लादों से मोरचा ले चुके हम। उनका क्या कर लेगा कोई? आखिर दुर्गादास जी भी तो एक मठ के महंत ही ठहरे—कैसे शेर-दिल हैं...

संतसरन०—(*हँस कर*) अरे भई, वे ठहरे शाक्त। उनके मन्दिर में तो बलि की रीति भी चली आई है बराबर। हमारा यह वैष्णव मठ, यहाँ तो बस अहिंसा और सेवा...

ठाकुर सा०—ऐसे जो कहिए, पर यह अहिंसा तो आज हिन्दू-जाति की हिंसा में ही आहुति हो रही है जैसे। यह इन्सानियत का तकाजा नहीं, आपकी कोरी कायरता का ही आईना ठहरा जो आपके धर्म—आपके सर्वस्व को भी ले डूबेगा बैठे बिठाये।

संतसरन०—(*कुछ सोचकर*) हाय राम! यह क्या आग भड़क उठी दोनों ओर। कोई भी ठंढे दिल से सोचने को तैयार नहीं।...सोचो तो—यह तुम्हारा देव बोल रहा है या दानव?

ठाकुर सा०—जी, 'हितं मनोहारि च दुर्लभं वचः'। सच्ची बात तो कड़वी खामखाह होगी, उसे खुशामदी चाशनी में पाग देने की अपनी लत नहीं।

संतसरन०—भला क्यों भूलते हो कि यह अहिंसा का ही चमत्कार है कि ब्रिटिश की सारी फौजी सत्ता के बावजूद हमारी सदियों की गुलामी यों कट गई *(चुटकी बजाते हैं)*।

ठाकुर सा०—*(व्यंग्य से हँसकर)* आप क्यों भूले जा रहे हैं कि यह लीगी हिंसा का ही तान-तेवर है कि गाँधी के तमाम त्याग और भाई-चारे के बावजूद हमारी सदियों की इकाई यों कट गई *(चुटकी बजा कर)* गले की जंजीर टूटी तो क्या, अंग तो कट गये।...दुनियाँ ने दाँतों तले उंगली देकर अहिंसा की विजय जो देखी हो, हमने तो अपने यहाँ दांत पर दाँत दिये हिंसा की ही विजय देखी। 'सौ सुनार की न एक लुहार की'।

संतसरन०—अजी यह तो घर की फूट ठहरी जो जाने कब से इस देश को भंभोरती चली आई। लो, भाई-भाई का दिल फटा, घर फूटा। हाँ, घर फोड़ने में विलायती चाणक्य की चाल ने दूर की कौड़ी लाई हो तो अचरज क्या ?...

वकील सा०—*(नेपथ्य की ओर देखकर)* लीजिये, आ गये महंत दुर्गादास जी भी—

(महंत दुर्गादास जी का प्रवेश)

दुर्गादासजी—नमस्ते, भाई जी।

संतसरन०—जै राम जी, आओ बैठो।

दुर्गादासजी—धन्य हो तुम। हम यहाँ लुटने पर आये हैं और तुम हो कि कानों पर जूं तक नहीं रेंगती। कुछ सुना, उधर तो जिस सिर पर शिखा पाई गई उसकी कुर-बानी हो गई मसजिद के दर पर। *(तख्त पर बैठ जाते हैं)*।

संतसरन०—अगर शिखा ही उनकी आँखों में ऐसी खल रही है तो उसे ही काट लेते। सर काट लेना तो अपना सर भी ओखली में देना ठहरा।

दुर्गादासजी—जी, यही तो बात है, मक्खी निगली है उन्होंने तो फिर लहू उगलेगा कौन ? न वे सैकड़ों बेकसूर के

लहू से अपने हाथ रँगते और न आज उनके सर की बलि के लिये हम हाथ धो पीछे पड़ते।

संतसरन०—मगर भई उनमें चन्द ऐसे भी तो हैं जिन्होंने अपनी जान पर खेल कितने पड़ोसी हिन्दुओं की जान बचा ली।

वकील सा०—(*चौंककर*) अपनी जान पर खेल कर! ऐसी अनहोनी! आप सपने देख रहे हैं क्या?

दुर्गादास०—मैं पूछता हूँ—

'जिसके पेट मे गाय का गोश्त,
वह कब हो हिन्दू का दोस्त।'

भला पेट में वह गोश्त और भलमनसत कहीं एक साथ···

संतसरन०—बस करो, बस! तुम्हारी ज़बान पर यह नहीं खुलती।

दुर्गादास०—(*एक आवेश में*) सो क्या?

संतसरन०—यही कि जो शीशे के घरों में रहते हैं उन्हें कभी ईंट-पत्थर नहीं फेकना चाहिए।

दुर्गादास०—(*आवेश से उठकर*) आखिर तुम्हारा मंशा— साफ खुलो भी।

संतसरन०—(*मुस्कुरा कर*) मैं पूछता हूँ, तुम्हें भी तो गोश्त से परहेज़ नहीं, बलि का ही सही।

दुर्गादास०—यहाँ सवाल है गाय के गोश्त का—बनो मत।

संतसरन०—अजी गोश्त गोश्त ही है, वह गाय का हो या किसी और ग़रीब का, जीव-हत्या तो दोनों ही बराबर ठहरी।

दुर्गादास०—ऐ लो! कहाँ बलि का प्रसाद, कहाँ कुरबानी का गोश्त।

संतसरन०—जी, वह भी प्रसाद ही ठहरा, समझे? क्या बकरीद की कुरबानी, क्या बलि—कोई भेद नहीं।

वकील सा०—कोई भेद नहीं?

संतसरन०—और क्या? काली के हीले झटके का कलिया खाया या बिस्मल्लाह के हीले जबही उड़ाई। यह या वह—एक ही सिक्के के दो रुख।

ठाकुर सा०—मगर हमारे यहाँ गाय की बलि तो न हुई न होगी।

संतसरन०—(मुस्कुराकर) जिसकी भी होती हो—वह भी एक गाय ही ठहरी—एक मासूम का खून। रही गाय की बलि, वह कब नहीं हुई? गोमेध है क्या आखिर? आज भी बलि क्या नहीं है—सामने न हो, पर्दे से ही सही। आखिर कसाई-खानों में गायें कहाँ से आती हैं। पैसे के लिए हम ईमान तक बेचते हैं, गाय क्या?

दुर्गादास०—तुम्हारी भी क्या बातें हैं—गऊ तो देवता ठहरी—माता। उसकी सेवा तो हमें मुक्ति तक देती है।

संतसरन०—अजी मुक्ति नहीं, तन्दुरुस्ती कहो। यह बात और है कि 'शरीरमाद्यं खलु धर्म-साधनम्'।

ठाकुर सा०—मगर हमारी धार्मिक पुस्तकों में गो-पूजा का जो माहात्म्य है···

संतसरन०—यह धार्मिक जामा पहनाया गया ताकि तुम्हारी आँखें खुलें—गऊ का लालन-पालन तुम्हारी सुखद गृहस्थी का साधन ठहरा। देखो न, तुलसी तो जड़ ठहरी—एक गाछ। उसकी पूजा भी हमारे यहाँ अपनी एक जगह रखती है। चूँकि तुलसी का सेवन हमारे कितने रोगों के लिए राम-बाण है।

ठाकुर सा०—मगर कामधेनु की पूजा की महिमा के क्या कहने···

संतसरन०—बस, इसीलिये कि तुम जी-उड़ेल गऊ की सेवा-टहल करो—तुम्हारे आँगन में घी-दूध-मक्खन-मलाई की छूट हो। तुम फूलो-फलो, तुम्हारे निखार में चार चाँद लगें—समझे।

वकील सा०—हाँ महाराज, यह तो एक पते की बात ठहरी।

ठाकुर सा०—तो फिर गऊ की कुरबानी लेकर हिन्दुओं के अन्दर जो आग भड़क उठती है वह क्या....।

संतसरन०—क्या-क्या? जिस मदारी के डमरू पर यह खींचतान कुलांच लेती रही, तुम्हें पता नहीं? यह तो विदेशी सरकार की कूटनीति की करामात ठहरी। लीजिये, गोकुशी के नाम पर हिन्दू भड़क उठें और मस्जिद के

सामने बाजे की आवाज़ पर मियाँ-मुल्ले। ...कुरान में तो गोकुशी का कोई महत्त्व नहीं। बीफ तो विलायती डिनर टेबुल की एक ख़ास चीज़ है—समझे।

दुर्गादास०—चाहे कुछ भी कहो, मगर मियाँ-मुल्ले हमारे कभी न हुए—न होंगे। उनकी तो घुट्टी ही में पड़ी है कि किसी काफिर के खून से बढ़ कर कोई सवाब नहीं।

संतसरन०—यह बात होती तो कोई सच्चा मुसलमान कभी अहिंसा का हामी होता?

ठाकुर सा०—भला मुसलमान और अहिंसा का उपासक।

संतसरन०—लो सुनो, एक मुसलमान संत तो यहाँ तक कह गये हैं कि जी चाहे तुम शराब पियो, जानमाज़ जला दो, काबे में भी आग लगा दो, मूर्ति तक पूजो—यह सब करो, कोई बात नहीं। मगर कभी किसी को सताओ मत।

वकील सा०—ऐसा! सच!

संतसरन०—और क्या—एक और कह गये हैं कि हजार रोज़ा, हज़ार नमाज़, हजार सिजदा—कोई कबूल नहीं अगर तुम्हारे हाथों एक छोटी-सी चिड़िया का भी रोआँ दुख गया। तो समझे भैया, यह हमदर्दी, यह अनुभूति तो किसी जाति की बपौती नहीं। भले और बुरे तो हर समाज में ठहरे। बस, अहिंसा ही इंसानियत का आईना, हमारी सच्ची धार्मिकता की आधारशिला ठहरी।

दुर्गादास०—अजी, यह कल्पना की छलांग है—दुनियाँ का यथार्थ नहीं। तुम किताबी बातें करते हो, हम ज़माने की वस्तुस्थिति—उसकी गति-विधि देखते हैं। आज एक हिन्दू और सिख की जान पर ''जायदाद पर बन आई है···

संतसरन०—और कल तक आपस का भाई चारा रहा बराबर। पल में क्या से क्या हो गया। फसादी लीडरी की बन्दिश ने उनकी पशु-वृत्ति को झकझोर कर उठा दिया। मगर मैं पूछता हूँ उस पार के सारे

हिन्दू कट गये—दो-चार भी बच न पाये···

ठाकुर सा०—अजी कट गये या लुट गये। कट ही जाते तो अच्छा होता। देखिये न, हमारी कितनी बहू-बेटियों की जान न ली, खड़े-खड़े आबरु लूट ली। जो ज़रा देखने-सुनने में वैसी रही उसकी क्या-क्या गत हुई—किसी से परदा है ?

संतसरन०—ऐसा ?

दुर्गादास०—और क्या ? जान ही ले लेते तो उनकी जान में जान आती। हाँ चन्द इने-गिने ऐसे भी हैं जिनको जाने क्या खिला-पिला, कलमा पढ़ा अपनी पांति में शामिल कर लिये। अब वे हमारे तो रहे नहीं—हो रहे उनके।

संतसरन०—मगर भई, हमने तो सुना है कि यह धर्म-परिवर्त्तन का तमाशा न खड़ा करते तो मज़हबी जोश में पागल जल्लादों के हाथ से बेचारों का छुटकारा कैसे होता। बस, उनकी जान बचा, उन्हें चुपके से भगा भी दिया आधी रात।

ठाकुर सा०—ऐसा ! विश्वास नहीं होता।

संतसरन०—न भई, सभी वैसे नहीं। यह बात और है कि आज की तूफ़ानी हवा में पड़ बेलौस रहना आसान नहीं। कितने समझदारों के भी पाँव उखड़ जाते हैं।

दुर्गादास०—मगर मैं पूछता हूँ, किसने कहा है तुमसे कि यह धर्म-परिवर्त्तन तो हाथी का दाँत दिखाने को है, खाने को नहीं। और जब मुसलमान बना ही लिये तो फिर उनकी जान छोड़ी या न छोड़ी—हमारा क्या ? कहाँ के रहे वे, कहो ?

वकील सा०—और वे बहू-बेटियाँ भी घर वापस आती हैं तो फिर घर की होकर रह पायेंगी कभी ?

संतसरन०—उनका दोष ? आखिर किया है क्या कि हम उनकी गर्दन में हाथ दें ? पीड़ित तो करुणा का पात्र है, घृणा का नहीं। उनकी जगह तो ज्यों-की-त्यों है—क्या घर क्या बाहर ?

दुर्गादास०—तुम्हारे मुँह कौन लगे ? दे पाओगे जगह हिन्दू-समाज में ? है यह बूता ?

संतसरन०—अच्छा कह रहे हो, जरा एक नज़र इधर तो देखो। पहचानते हो यह कौन है ? वह, वहां (*नेपथ्य की ओर दिखा कर*) जो फूलों की माला गूंथ रहा है पूजा के लिए ?

दुर्गादास०—(*उस ओर मुड़कर देखने के बाद*) वही कुन्दन है न तुम्हारा कोई चेला।

संतसरन०—हाँ हाँ वही। मगर उस दिन इसका नाम अमजद या जाने क्या रख दिया था उस ओर की मसजिद के मुल्लों ने।

वकील सा०—सो कैसे ?

संतसरन०—जा पड़े बच्चू उधर उस चट्टी पर···वहीं, जहाँ मसजिद है—मुसलमानों की घनी आबादी। दंगे की खबर तो थी नहीं। है भी ज़रा वैसे उजबक। यह तो कहो कि इसी गाँव का अहमद जाने कहाँ से उस पौर पर पहुँच गया। और मसजिद के दर पर उसने धर्म परिवर्त्तन का तमाशा खड़ाकर जान बचा दी नहीं तो औरों की तरह कट गये होते।···

ठाकुर सा०—वाह रे अहमद ! जान छोड़ दी, जात ले ली।

संतसरन०—दुत् ! ऐसी भी क्या जात है—दो कौड़ी की कलई जैसे। कहीं कुछ खा लिया और पल में फुर···

दुर्गादास०—हाँ जी, यह अहमद है कौन ?

संतसरन०—जैसे कि तुम जानते ही नहीं। आखिर इस गाँव में ले-देकर यही दस-पन्द्रह घर मुसलमान ठहरे, देखना इन पर कोई आफत न आवे। ये बेचारे तो बराबर हमारे साये में रहे—किसी वैसे दंगे में शामिल नहीं।

दुर्गादास०—तो उन्हें दगे साँड़ की तरह छोड़ दिया जाय कि जिस हरे-भरे खेत को चाहें, चर डालें। मैं पूछता हूँ, वे कब तुम्हारे रहे और होंगे।

संतसरन०—नहीं-नहीं, सभी ऐसे नहीं···

ठाकुर सा०—उनकी बातों में न रहना महंत जी। यह समय

और है। अब दाढ़ी-चोटी की गुत्थी तो सुलझने से रही। जो आग भड़क उठी है वह बुझाए न बुझेगी, आप भी सर मारें तो क्या!

दुर्गादास०—और यह अहमद तो तुम्हारी आँखों में धूल झोंक रहा है—धूल। किसी काफिर के लिए उसके दिल में दर्द हो, यह कुरान लेकर भी एलान करे तो उस ज़बान के अन्दर एक दूसरी ज़बान होगी—जान लेना। माना कि किसी में ऐसी करुणा भी आई तो उसके भाई-बिरादर उसे छठी का दूध याद न करा दें तो कहना·····

संतसरन०—हाँ भई! अहमद भी पड़ा है मुश्किल में। सुना है उस पार के कितने मियाँ मुल्ले लाल-पीले हो रहे हैं शायद···

दुर्गादास०—मगर तुम कुन्दन को फिर यों ही वापस ले रहे हो क्या? शुद्धि भी नहीं कराई! और तो और, इस मन्दिर के अन्दर तो उसको आने देना तुम्हारी बड़ी वैसी अनधिकार·····

संतसरन०—भला उसका दोष? कोई मेरे सीने पर सवार होकर मुँह में बधने का पानी उड़ेल दे तो इससे मेरा क्या गया? गया तो उनका जो ऐसे जुल्म को धर्म मानते हैं। धर्म की तबदीली तो हमारी खुशी पर है—किसी लाचारी या किसी ज़ालिम की मर्ज़ी पर नहीं। मैं तो समझता हूँ कि न तो खान-पान में कुछ रखा है—न नमाज़ या कुरान-पाठ में। यह रंग अन्दर से न उठा तो बाहर से कोई चढ़ा नहीं पाता।

दुर्गादास०—(*जोश में*) बस, बस करो। ऐसी मति गति हमारे पूर्वजों की भी हुई रहती तो हमारा सनातन धर्म रसातल जा चुका होता—हिन्दू नाम भी शेष न होता।

संतसरन०—अजी यह मति-गति हमारे पूर्वजों की हुई रहती तो भारत की छाती आज दो टूक न होती और न उसके कलेजे के लहू से पाकिस्तान की अलीशान इमारत खड़ी होती।

वकील सा०—क्या बे-सिर-पैर की बात औंटे जा रहे हैं आप। पाकिस्तान तो इस्लाम का पल्ला थाम विलायती कूट-नीति का मोहरा ठहरा। आपकी आजादी की माँग का मुँह-तोड़ जवाब है यह।

संतसरन०—अजी यह तो सतह पर है, बस! तह पर है हिन्दू-जाति की सदियों की तंग नजरी और बहिष्कार की छुई-मुई की नीति। हमारे सनातनी पूर्वजों की आँखें खुली रहतीं तो लाखों अछूत न क्रिस्तान होते और न करोड़ों हिन्दू विवश होकर मुसलमान।

ठाकुर सा०—यह क्या कह रहे हैं आप?

संतसरन०—यही कि एक दिन वह था कि भूलकर भी कोई दो घूँट छुआ पानी पी लिया तो लीजिए, हिन्दू-समाज से निःसारित। वह लाख सर मारे, कोई पूछ नहीं। ऐसों की संख्या हज़ारों-हज़ार की चोटी छूती चली गई। लो, आज वही हज़ार लाख-करोड़ होकर तुम्हारी छाती पर मूँग दल गये—काट कर ले गये भारत माता का अंग तक। मगर तुम हो कि आज भी अतीत की रेत में चोंच को गाड़ वही सड़ी-बुसी रूढ़ियों का पल्ला थामे···

वकील सा०—(*जोश में*) ऐसा?

संतसरन०—जी, ऐसा। अब समझे, यह पाकिस्तान क्या है। तुम्हारी धर्मान्धता के मुँह पर यथार्थ का ज़ोरदार चाँटा। अपना पाप का घड़ा फूटा है जैसे। यह तो कहो कि दयानन्द, विवेकानन्द, गुरु गोविन्द और नानक ऐसे दूरदर्शी इस देश में न आये होते, तो क्या जाने भारत का नामनिशान तक मिट गया होता अब तक···

वकील सा०—(*सोचकर*) हाँ भई, यह तो पते की बात ठहरी।

संतसरन०—जानते हो न, आज के कितने लीगी लीडरों के पूर्वज हिन्दू ही थे···बस ज़रा-सी भूल पर···

दुर्गादास०—अच्छा जी, रखो भी अपनी रट। यह कहाँ का क्या ले उठे तुम? जो हुआ, हुआ। अब उस बात

के वादविवाद से आता-जाता ही क्या है? जो सामने है उसे देखो। उस पार के सारे हिन्दू तो कट गये या लुट गये, अब इधर आपके पड़ोस के मियाँ-मुल्ले···· जाने दीजिये, दूध पिला कर पालिये साँप आस्तीन में·····

संतसरन०—अजी यह तो हमारे पैरों तले की चींटी ठहरे, पर जमे नहीं कि रौंद दिया। इन बिचारों ने तो जभी से सुना है उस तरफ की मार-काट, उनकी जान में जान नहीं। और भई, हम मर जायँ तो मर जायँ, हमारी आँख का पानी तो मरने से रहा।

दुर्गादास०—यही समदृष्टि की लहर तो हिन्दू-जाति को ले डूबी। बस, अपने होंठ सीकर रखो, नहीं तो समझ लो क्या बादल उमड़ आयेंगे तुम्हारे सर पर। यही धुन रही तो बड़े-बड़ों की नाक कट कर रहेगी आज। ज़माना देखो, ज़माना।

संतसरन०—*(नेपथ्य की ओर देख कर)* अच्छा, यह राय साहब गुलजारी लाल जी हैं—भला वहाँ क्यों खड़े हैं—अन्दर आइये अन्दर—अच्छा, लहना सिंह जी भी हैं—ओ कुन्दन, कुन्दन!

(नेपथ्य से आवाज) जी आया।

(एक ओर से कुन्दन का प्रवेश— दूसरी ओर से राय साहब और लहना सिंह आते हैं)

(सभी उठ कर खड़े हो जाते हैं)

संतसरन०—*(कुन्दन की ओर रुख कर)* अरे भई! कुर्सियाँ तो मंगा लो—कुछ जलपान का भी···

रायसाहब—जी नहीं। हमें बैठना नहीं है—बस आपको *(महंत दुर्गादास जी की ओर इशारा करके)* सूचना दे देनी ठहरी·····

दुर्गादास०—तो वहाँ आस-पास के हमारे सारे भाई-बन्धु···

लहना सिंह—जी, काफी भीड़ है। बस आपका ही इन्तजार है।

दुर्गादास०—तो लो बस चले चलो

(सब चलने को तैयार होते हैं)

संतसरन०—तो वहाँ कुछ है क्या आज ?

ठाकुर सा०—(*हँस कर*) कुछ है ? बहुत कुछ है, कहिये।

दुर्गादास०—(*जोश में*) अजी सब कुछ है, समझ लो। मैदान में उतर कर कहाँ क्या मोर्चा लेना है—यह सारा प्रोग्राम निश्चित करा लेना ठहरा। कल से तो बस चित्त या पट्ट···हमीं या वे ही—समझे।

रायसाहब—और क्या···और यही ठाकुर राजकिशोर जी हमारे सेनानायक रहेंगे। महाबीरी झंडे का दल है अपना···

संतसरन०—मगर भई, हमारे यहाँ इस पड़ोस में तो····

राय साहब—अच्छा, देखा जायगा। आप तो हाथ तक नहीं बँटाते, आस्तीन चढ़ाना तो दूर।

वकील सा०—(*हँस कर*) अपनी-अपनी नज़र, अपनी-अपनी राह—आइये, चलिये····देर नहीं।

(*सब जा रहे हैं*)

संतसरन०—अरे भई, सुनो भी···(*कहते हुए साथ देते हैं, मगर जब कोई नहीं सुनता है तो हाथ जोड़ आकाश की ओर सर उठा कर एक आवेश में कहते हैं*) भगवन् ! क्षमा करो, बिचारे जानते नहीं कि हम कर क्या रहे हैं।

(*पर्दा गिरता है*)

*

द्वितीय अंक

प्रथम दृश्य

[मंदिर के सामने का बरामदा]

(श्री संतसरन जी और कुन्दन बातचीत करते साथ आते हैं)

संतसरन०—क्या है कुन्दन—यह तुम्हारी आँखों में आँसू कैसे?

कुन्दन—क्या बताऊँ महाराज! यहाँ के ब्राह्मण देवता तो नाक-भौं सिकोड़ रहे हैं, लगे हैं हमको जुलाहा पुकारने।

संतसरन०—माँगते होंगे दसबीस तुम्हारी शुद्धि के लिए, है न?

कुन्दन—जी, साफ खुलें तब न। अभी तो आठो पहर दुर-छिः की ही रट है। उनका वश होता तो शायद इस देह से मुझे हिन्दू की पाँति में झाँकने तक नहीं देते। अहमद ने जान जो बचाई हो, पर आप न होते तो हम कहाँ के होते आज? इस मन्दिर की पौर पर सर के बल भी आ पाते?

संतसरन०—जाने दो, यह दुर-छिः की धर्मान्धता तो सदियों से हिन्दू-समाज के सर पर शनिश्चर की दृष्टि बनी रही। आखिर धार्मिक सन्निपात का लक्षण और क्या होगा। फिर भी आँखें नहीं खुलतीं— बलिहारी है ऐसी टेढ़ी बुद्धि की।

कुन्दन—*(कुछ सोच कर)* उधर के मियाँ-मुल्ले भी तो अपने-आप में नहीं रहे आज। उनकी आँखों पर भी तो चरबी छा रही है··बेचारा अहमद!·····

संतसरन०—*(घबरा कर)* क्या है कुन्दन—क्या हुआ?

कुन्दन—*(आँखों में आँसू छलकाये)* कट गया बेचारा उसपार के अपने भाई-बिरादर की ही चाल से।

संतसरन०—(*उदास—कुछ सोचकर*) बड़ी भूल हुई, उसे उधर जाना ही नहीं चाहता था।

कुन्दन—कुछ अपनी खुशी थोड़े ही गया। वह तो चाहता था कि दंगा न हो, आग बुझ जाय। मगर उधर कोई सुने भी उसकी।

संतसरन०—(*उदास—सिर थामे हुए*) तो आखिर यह कैसे क्या···

कुन्दन—अपने यहाँ जो चन्द दरजी-जुलाहे ठहरे, उन्होंने ही हाथ-पैर पड़ भेजा कि उस पार के अपने मुसलमान भाई की आँखों में उंगलियाँ डाल कर दिखा दो कि उनके किये का फल भोगना पड़ेगा इधर हमको। एक तो हम ठहरे इने-गिने, दूसरे हिन्दुओं से बराबर भाई-चारा रह आया है—रात-दिन का मेल-जोल। मगर वे तो अहमद से जले बैठे थे, हमारी जान जो बचाई उस रात। बस, उसे पाया नहीं कि साथ ले लिया और झांसा देकर झोंक दिया दंगे में सब के आगे।

संतसरन०—(*कुछ सोच कर*) ओहो, बड़ा तीर मारा एक भले-मानस की यों जान लेकर। और कैसे सिर फिरे हैं वे नादान···बनते हैं वैसे बड़े पाक—इस्लाम के कर्णधार मगर इधर भी जो कितने उनके भाई हैं, वे भी तो कुछ काफिर नहीं। उनके लिए आँख में दो बूँद भी पानी होता तो उनकी जान यों खतरे में डालते? ऐसी भी क्या आँखों पर ठिकरी रख लेनी चाहिये। कहीं उधर का जवाब इन बेचारे गरीबों के सर बीत गया तो···

कुन्दन०—हाँ, सरकार, अब देर नहीं—पड़ोस के गर्माये हुए हिन्दुओं का दल टूटा चाहता है इन्हीं पर अपना बुखार उतारने···

संतसरन०—मगर इन बेचारों ने कब क्या किया भला? हम क्यों चले उन जल्लादों की लीक पर? हाय राम! यह तो ऐसा चक्र चल पड़ा कि एक ओर न हिन्दू बच पायेंगे न दूसरी ओर मुसलमान।

कुन्दन—जी, यही तो बात है।

संतसरन०— (उठ कर टहलते हुए) तो जिन्ना की जमात में हिंसा ही मूलमंत्र जो हो, हम तो ठहरे गाँधी जी के अनुयायी। हमारे पक्ष को तो अहिंसा का ही आधार ठहरा।···और देख लेना, आज यह हिंसा की तूती बालती है—बोल ले, मगर जीत होगी अहिंसा की ही आखिर। इसी रक्तपात से मनुष्यता का अंकुर फूट कर रहेगा—अगर धर्म और न्याय का पल्ला सच है, झूठ नहीं।

कुन्दन—मगर महाराज, यहाँ के मुसलमान तो दिन में तारे देख रहे हैं—कुछ घड़ी के मेहमान ठहरे। लौंडे-छौंडे तो जाने किधर रात ही में लुक-छिप गये, मगर बड़े-बूढ़े तमाम घर-बार छोड़ कहाँ जायँ, कैसे जायँ?

संतसरन०— (खड़े होकर सोचते हुए) हाँ भई, यही तो मैं भी सोच रहा हूँ,

कुन्दन—और तो और, अहमद के एकलौते बेटे का क्या होगा? अभी सिन ही क्या है, मारे-पीटे बारह साल। हाँ, पहली बीबी मर गई तो पार साल नई शादी कर ली। वह भी है बेचारी।

संतसरन०—इनको तो तुम्हें कहीं शरन देनी ही ठहरी।

कुन्दन—(सोच कर) कैसे क्या करूं-कहिये·· लीजिये सुनिये, वह हंगामा आ पहुँचा। क्या जाने, आ रहा है इसी ओर (नेपथ्य में बजरंग बली की जय के नारे—दूर से आती हुई आवाज) यहाँ के तुर्कों को खत्म करने···

संतसरन०—(चौंक कर) कहाँ है वह छोकरा, उसकी माँ।

कुन्दन—(नेपथ्य की ओर देखकर) वह क्या—वह, वहाँ, उस झाड़ी की आड़। आधी रात से ही छिप कर बैठे हैं यहाँ।

संतसरन०—अरे, इस मन्दिर की चहारदीवारी के अन्दर! यहाँ क्यों लाये तुम? मन्दिर का प्रसाद खिलाकर उन्हें हिन्दू तो बना नहीं पाते। जान बचती है कैसे? बोलो। आखिर अहमद ने तुम्हारे उबार के लिये जो

खेल खेला, वह तो हमारे यहाँ चलने से रहा। कहीं कोई देख लेगा तो लेने के देने···

कुन्दन—जानें आप। ये ठहरे आप की ही प्रजा, आपके गुलाम।

संतसरन०—यहीं किसी अपने जाने माने हिन्दू के घर छिपा देते तो···

कुन्दन—उन्हें कहीं इतमिनान जो नहीं। और बात भी है, कौन अपनी जान खतरे में डाल उन्हें शरन दे। कहीं किसी ने छिपा भी लिया तो रात ही में गुपचुप-कानों कान किसी को खबर न होने दी, नहीं तो कान भरने वालों की बन आती···

संतसरन०—*(सोचकर)* अच्छा, तुम मेरी ओर से जाकर तमाम अपने भाइयों को समझा दो कि यहाँ के हर मुसलमान की जान की रक्षा हमारे मान की रक्षा ठहरी—समझे। हां, इन दोनों को भेज दो इधर—इनके बचाव का कोई रास्ता तो ढूँढ़ना ही होगा।

कुन्दन—जी, जैसी आज्ञा *(प्रस्थान)*।

संतसरन०—*(स्वगत, आकाश की ओर सर उठाकर)* भगवन्! तुम्हारी शरण में यह आये हैं,—जानो तुम। मेरे किये क्या होने को।

[अहमद की बीबी और बच्चे का प्रवेश; बीबी बुर्के में है—हाथ में कुछ कपड़े हैं—दोनों संत सरन जी के चरणों पर सिर झुकाते हैं]

संतसरन०—क्यों भई, कैसे आई तुम यहाँ? लो, यह क्या लाई हो साथ···

अ० की बीबी—जामा जोड़ा है सरकार। यह रामजी दोनों भाई की जामा चांदर, यह सीता मैया की चूनर।

संतसरन०—हाँ, याद है, अहमद को ही सौंपा था मुकुन्द ने उस दिन। कितने देने हैं तुम्हें····

अ० की बीबी—हम तो इसी मन्दिर की गुलाम ठहरी—मुद्दत की नमकखार। दो चार बीघे जागीर भी हैं। आई हूँ आपकी शरन में—जान बख्श दो। कितनी पीढ़ी इसी ड्योढ़ी पर सीते-पिरोते गुज़र गई। यह भी हज़ूर

ही का.. ले अरे खड़ा क्यों है—महाराज के चरनों पर सर रख (*अहमद का बेटा झुकता है चरनों पर*)।

संतसरन०—(*आशीर्वाद देते हुए उसे उठा लेते हैं*) बस, जीते रहो। (*अहमद की बीबी की ओर मुड़कर*) तो तुम हमारे यहाँ कैसे आई शरन ढूँढ़ने ?

अ० की बीबी—कैसे नहीं आती, कांहये ? है कोई अपना सहारा आज ? बस, एक आपकी पौर ठहरी। आपकी आँख में पानी है—आप आदमी पहले हैं, मठ के पुजारी पीछे। (*हाथ के कपड़ों को वहीं चौकी पर रख देती है*)।

संतसरन०—(*मुस्कुराकर*) यह मेरा हुलिया किसने दिया तुमको ?

अ० की बीबी—आप ही के दर्जी ने। वह भी आप ही की लीक पर इन्सान पहले था—मुसलमान पीछे।

संतसरन०—ऐसा ?

अ० की बीबी—जी, इसी हवा-पानी में पल वह लगा था अहिंसा का राग भरने। अपने पीर मियाँ की खातिर भी मुर्गी ज़बह करना गवारा न था। मगर गरीब आदमी, अपने हाथ वह रहा ही कब ? मज़हबी गुण्डों के हाथ पड़ा, बस, क्या बताऊँ...आज तो मज़हब भी एक अज़ाब हो रहा है सरासर। बस, जो मज़हब का बनता है, वह अपने रसूल का नहीं, अपने रब का नहीं...वह रब जो रब्बुल आलमीन है—कुछ रब्बुल मुसलमीन नहीं।

संतसरन०—तो यह सारी बातें तुमने अपने शौहर से पाई हैं ?

अ० की बीबी—जी, जब यह खूँरेज़ी और फ़िरकेबन्दी की आँधी उठी तो बराबर कहा किये कि यह तो लीडरी और खुदगर्ज़ी आई है धर्म की अफीम खिलाकर आदमियत की दुनयाँ को तबाह करने। जभी तो आज जल्लाद गुण्डे ही ऊँचे होकर चल रहे हैं।

संतसरन०—(*कुछ सोचकर*) मगर भई, यह ठहरा वैष्णव-मन्दिर—तुम ठहरी मुसलमान। हमारे यहाँ कुछ ऐसी

पाबन्दियों की धाँधली है कि हम चाहकर भी कोई राह देख नहीं पाते।

अ० की बीबी—महाराज, जहाँ चाह है, वहाँ राह भी तो...

संतसरन०—तो तुम दिल से आई हो उसकी शरन ढूँढ़ने ?

अ० की बीबी—जी, और क्या ? वही तो एक सहारा ठहरा।

संतसरन०—तो तुम मानती हो न, जो तुम्हारा रहीम है, वही राम भी।

अ० की बीबी—जी, बराबर। राम और रहीम की ज़बान दो हो, भगवान दो नहीं।

संतसरन०—मगर यह ज़बान की केंचुल उतार फेंकना तो आसान नहीं।

अ० की बीबी—जी, उतार न पाती तो यहाँ आती कैसे ? बस .. जान माँगती हूँ और माँगती हूँ अपनी लाज आपके मन्दिर की शरन में आकर। आखिर यह भी तो उसी रहीम का मन्दिर ठहरा—तो फिर उसकी रहमत का साया सभी के लिये...

संतसरन०—ज़रूर। तुम में इस विश्वास की दृढ़ता हो तो इसी पौर पर माथा टेक पुकारो...'हमारी लाज रखो नाथ—जैसे द्रौपदी की रखी, मेरी भी रखो।' हम तो भई उसके हुक्म के ताबेदार ठहरे। हमारे अन्दर जैसी प्रेरणा देगा—उसी पर हम अमल करेंगे।

अ० की बीबी—मगर हम तो वैसे संसकीरत के अलफ़ाज ··

संतसरन०—(हँसकर) फिर वही ज़बान ! कहा न, वह केंचुल उतार फेंकना आसान नहीं।···अरे पगली ! वह तुम्हारे दिल की सुनता है, जबान की नहीं। तुम्हारे अन्दर का भाव देखता है वह, उसके इज़हार की रूप-रेखा चाहे कुछ हो··वह भी क्या हमारी तरह हिन्दू है या मुसलमान—हमारे लिये एक न्याय, तुम्हारे लिये दूसरा ? सच मानो, हमारा राम तो किसी धर्म या ज़बान का गुलाम नहीं—वह तो हर खासो-आम का है। बस, देर नहीं, लो सुनो, आ रहा है वह हंगामा आसपास।

['जै बजरंगबली' की पुकार—आवाज अभी वैसी नज़दीक नहीं पर वह घबरा उठती है; बच्चे को गोद में समेटती है, फिर चेहरे पर से बुर्क़ा उतार फेंकती है और बच्चे को लेकर मन्दिर के बन्द किवाड़ की पौर पर सर रखती है। फिर उठकर हाथ जोड़ती है और लगती है उसी ओर रुख़ कर कहने]।

अ० की बीबी—मेरे अल्लाह! मेरे राम! कहो तुम्हें क्या कहकर पुकारूँ आज? कुछ भी कहूँ, पुकार तो रही हूँ तुमको··तुम्हीं को। जहाँ सर रख दूँगी वहीं तुम हो। तुम तो ईमान की सुनते हो, ज़बान की नहीं। मेरी लाज तुम्हारे हाथ है। द्रौपदी की पुकार तुमने सुनी, मेरी न सुनोगे? उसके लिये कुछ, मेरे लिये कुछ? क्यों? मैं भी तो एक दुखिया ही ठहरी, उसी की तरह। सर पर आसमान फटा चाहता है—अब गई, तब गई···

'मेरी आहों में दम भर के लिये तासीर हो जाती,
तुम्हें बेचैन करने को कोई तदबीर हो जाती।'

[वह हाथ जोड़े खड़ी है, आँखों में आँसू के तरारे हैं। महन्त संतसरन जी आसमान की ओर आँखें उठाये जाने क्या प्रेरणा ढूँढ़ रहे हैं। उसी पल नेपथ्य से रामदास जी की गूंजती हुई आवाज़ आती है—

वैष्णव जन तो तेने कहिये जे पीर पराई जाने रे,
पर दुःखे उपकार करे पर मन अभिमान न आने रे।]

संतसरन०—धन्य हो प्रभु—धन्य तुम्हारी प्रेरणा··

(बजरंग बली की आवाज नजदीक आती है—अहमद की बीबी तिलमिला उठती है—बच्चे को लेकर संतसरन जी की ओर झुकती है)

संतसरन०—(एक आवेश में) उठो, चलो मन्दिर के अन्दर—वहीं पनाह मिलेगी। यही उस अन्तर्यामी का आदेश है... मुकुन्द, मुकुन्द खोलो किवाड़—खोलो

(किवाड़ पर दस्तक—मुकुन्द का प्रवेश)

मुकुन्द—(चौंक कर) अरे, यह कौन है...यहाँ क्या..

संतसरन०—पहचानते नहीं। अहमद का बेटा है न।

मुकुन्द—भला तुम। तुम यहाँ कैसे ? और यह—यह औरत—तुम्हारी कोई...

अ० का बेटा—हाँ जी, अम्मी भी साथ हैं।

मुकुन्द—(*एक आवेश में*) मगर यह तो मस्जिद नहीं। मन्दिर ठहरा—मन्दिर।

अ० की बीबी—मैं भी तो इस मन्दिर की नमकखार ठहरी, जभी तो शरन ढूँढ़ने आई हूँ यहाँ।

मुकुन्द—यहाँ हमारे राम के मन्दिर में ?

अ० की बीबी—जी, आपका राम तो हमारा भी रहमान ठहरा, है न ?

संतसरन०—भला मुकुन्द, राम कुछ तुम्हारा ही नहीं है। किसका नहीं है वह ? चर-अचर हर का है वह। याद है न भगवान की वह वाणी—

'समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न मे प्रियः।'

और *'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्'*।

यह तो हमारी दृष्टि की तंगी होगी कि हम उसे अपने दायरे में बाँध रखें।

मुकुन्द—तो वह दिल से चाह रही है इस मन्दिर के अन्दर हमारे प्रभु के चरनों में सर रखना ?

संतसरन०—तो हम कुछ उसे बाँध कर थोड़े ही लाये हैं। यही तो कुशल है, वह जान रही है, नाम और रूप चाहे जो अलग हो, वह तो एक है—अकेला। क्या काशी और काबा—क्या मन्दिर, मसजिद या गिरजा।

मुकुन्द—मगर एक मुसलमान के अन्दर ऐसी चेतना तो इस युग में...

संतसरन०—भगवान के यहाँ किस आश्चर्य की कमी है भला....

मुकुन्द—(*कुछ सोचकर*) मगर क्या कहेगा कोई, सोचिये तो...

संतसरन०—सोच लिया है—विश्वास करो। कौन क्या कहेगा कोई बात नहीं। दुनियाँ चाहे जो कहे। क्या कहेगा हमारा अन्तर्यामी—हमारा वह, यही मुख्य है।

मुकुन्द—फिर भी, यह जो ठहरा भगवान राम का मन्दिर...

संतसरन०—यह क्या, यह ईंट-पत्थर ! नहीं-नहीं—भगवान

का मन्दिर तो यह है—यह शरीर (*हाथ के इशारे से दिखलाते हैं*) योग वाशिष्ठ तो यहाँ तक कहता है कि जो इस अन्दर के ईश्वर की जगह बाहर के ईश्वर को ढूँढ़ता है, वह अधम ठहरा। तो जान रखो, वह अन्दर रहता है, तुम्हारे अन्दर, हमारे अन्दर, हर-एक के अन्दर—हमारी आँख की आँख, कान के कान, हमारे मन के मन और प्रान के प्रान—समझे। बाहर इस ईंट-पत्थर की इमारत के अन्दर तो एक प्रतीक है, बस। जब किसी ने उसे ढूँढ़ा—उसे पाया तो अपने अन्दर ही—बाहर नहीं। भूल गये—

'वह मोहना सलोना रमता है मन के मन में।'

मुकुन्द—माना कि जो कुछ जौहर है वह अन्दर ही। बाहर एक प्रतीक ही ठहरा। फिर भी, आपके मठ और मन्दिर की नींव तो एक विशेष धर्म के अनुकूल ..

संतसरन०—मन्दिर की नींव! अजी उस धर्म की नींव क्या है, उसे देखो। वही कसौटी ठहरी।

मुकुन्द—क्या है वह?

संतसरन०—बस, आत्म-भाव। समझे। यही समदृष्टि तो हमारे धर्म की धुरी ठहरी। आखिर, वह धर्म भी क्या जिसमें सम्प्रदाय की बू हो—यह मैं और तू।

मुकुन्द—मगर यह तो ज्ञान का सूत्र ठहरा। हमारे साथ तो भक्ति का पक्ष है।

संतसरन०—अच्छा जी, भक्ति को ही लो। हो न तुम भगवान के भक्त।

मुकुन्द—जी, अवश्य।

संतसरन०—तो भक्त का परिचय भगवान ने क्या दिया है गीता में? है याद?

मुकुन्द—क्या महाराज?

संतसरन०—वही जो सबका है और सब उसका है, जो करुण, निरहंकार, क्षमी और सबके सुख-दुख में शामिल है। तो समझ लो,

'समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्ति लभते पराम।'

यही भक्त की पहचान ठहरी—यही समदृष्टि। राम-नामे की चादर नहीं, माला-तिलक नहीं और शुद्ध-अशुद्ध की बारीकियों की छानबीन नहीं।

मुकुन्द—जी, यह एक नया पहलू है मेरे सामने आज।

संतसरन०—नया नहीं। भागबत में तो साफ आया है कि जो मनुष्य सब जीवों के अन्दर भगवान को देखता है, सबको भगवान का रूप समझता है और भगवान के अन्दर सब जीवों को देखता है वही भगवान का परम भक्त है। उस एक को हर चोले में स्वीकार न किया—आविष्कार न किया तो फिर अपनी भक्ति क्या?

मुकुन्द—*(सोचकर)* जी समझा।

संतसरन०—बस याद रखो; अपनी अनुभूति पहले है, किसी शास्त्र की पद्धति पीछे। कहीं पद्धति ही हावी हो गई अनुभूति पर तो रह गये हम कगार पर कंकड़ चुनते।

मुकुन्द—हाँ महाराज, बात तो पते की है यह।

संतसरन०—बस, मनुष्य को देखो, उसके रूप-रंग, जाति या धर्म को नहीं। वह एक भेद है, गौण—कोई तथ्य नहीं। आखिर दुखिया दुखिया ही है, तिस पर एक अबला। अब वह कौन है, कैसी है, कहाँ की है—कोई बात नहीं।

मुकुन्द—जी, हमारी आँखें खुल रही हैं। वह हमारे सर आँखों पर है। आओ बहिन, मन्दिर के अन्दर आओ—देर नहीं। *(नेपथ्य की ओर देखते हुए)* लो, वह जत्था इधर मन्दिर की ओर मुड़ रहा है।

[मन्दिर का पट खुलता है, वह चौकठ पर ठमक पड़ती है—घबराई हुई]

संतसरन०—क्यों—घबरा रही हो क्या?

(अहमद की बीबी बद-हवास खड़ी है, चेहरा उड़ गया है—बोल नहीं पाती)

मुकुन्द—कैसे न घबराये—कहिये। उस दिन मसजिद के दर

पर कुन्दन ही अपने आप में रहा ? क्या-क्या नहीं करना पड़ा···आपने सुना ही होगा।

संतसरन०—मगर उसका गया क्या ? रह गया वही कुन्दन का कुन्दन—कुछ अमजद न हुआ।

अ० की बीबी—महाराज, कभी अन्दर जो गई नहीं, रह-रह कर ईमान जैसे थर्रा उठता है।

संतसरन०—डरो मत, तुम काफिर न होगी। मन्दिर के अन्दर कोई शैतान नहीं जो तुम्हारे ईमान को हड़प उठेगा। यह सब कुछ तो अपने मन पर है, मानो तो ईश्वर नहीं तो पत्थर।···जानती हो न, महम्मद साहब ने भी काबे के किसी बुत पर हाथ तक न उठाया जब तक उसके पूजने वाले उससे खुद खिंच न गये।

अ० की बीबी—(*घबराहट में*) सो तो है, फिर भी·

संतसरन०—(*हँस कर*) तुम तो बस दो पल के लिये स्टेज पर जा रही हो तमाशे में अपना एक पार्ट अदा कर देने। मजमा गया और पर्दा गिरा। अभी उस दिन तुम्हारे शौहर ने एक भक्त पुजारी का पार्ट किस खूबी से खेला था—भूल गई ? दाँतों तले उँगली थी सबकी।

(नेपथ्य में समीप आती हुई बजरंग बली की आवाज़)

अ० की बीबी—अच्छा जी, चलिए अन्दर—कोई बात नहीं।

(मुकुन्द के साथ अहमद की बीबी अन्दर मन्दिर में जाती है, बेटा भी साथ है—दूसरी ओर से बदहवास घबड़ाया हुआ कुन्दन आता है।)

कुन्दन—महाराज ! आ गया वह हंगामा···वह देखिये, वह वहाँ (*नेपथ्य की ओर दिखाते हुए*) लीजिए, हथियार बंद हैं सारे, बैन्डबाजा भी है। अब कैसे क्या···कहिए ?

संतसरन०—तो हुआ क्या ? आने भी दो··दर्शन कर लें !

कुन्दन—मगर कहीं उन पर कुछ बीत गया तो—अच्छा होता उन्हें आपके कमरे में बन्द कर····

संतसरन०—ऐसा काम भी न करना··हाँ। बस, मन्दिर के अन्दर चलो—अन्दर। आरती का आयोजन करो—देर नहीं।

कुन्दन—मगर उन गरीबों के लिये भी तो कुछ ··

संतसरन०—छोड़ो भी, उनके उबार का भार तो उस पर है जिसकी शरन में आये हैं वे, जानते हो न—

'राखत आये लाज शरन की।'

कुन्दन—अच्छा जी, जैसी मर्जी—(*कुन्दन अन्दर जाता है*)

(संतसरनजी आकाश की ओर आँखें उठाकर हाथ जोड़ एक आवेश में कहते हैं)

संतसरन०—लो प्रभु, अब लाज तुम्हारे हाथ है, जानो तुम।

द्वितीय अंक

द्वितीय दृश्य

[मन्दिर; सिंहासन पर राम जानकी की मूर्ति, अहमद की बीवी साड़ी पहने चँवर डुला रही है—मुकुन्द सामने खड़ा आरती दिखा रहा है, कुन्दन शंख फूँकता है—अहमद का बेटा धोती-चादर में घड़ियाल बजा रहा है। मुकुन्द आरती रखकर स्तोत्र पढ़ता है]

'त्वमेव माता च पिता त्वमेव
त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव
त्वमेव विद्या द्रविणं त्वमेव
त्वमेव सर्वं मम देव देव।'

[जत्थे के दो-चार आते हैं—पल भर खड़े रहते हैं, प्रणाम करते हैं और दूसरी ओर से निकल जाते हैं। एकाध ठमके खड़े भी हैं—रायसाहब, वकील साहब और लहना सिंह—उनके हाथ में तलवार-भाला है। मुकुन्द स्तोत्र समाप्त कर सूरदास का भजन गाता है—रामदास जी भी साथ हैं—नेपथ्य में हारमोनियम और तबले की ध्वनि]

मेरे प्रभु अवगुन चित न धरो।
समदरसी प्रभु नाम तिहारो अपने पनहि करो॥
एक लोहा पूजा में राखत एक घर बधिक परो।
सो दुविधा पारस नहीं राखत कंचन करत खरो॥
एक नदिया एक नार कहावत मैलो नीर भरो।
जब मिलि कै दोउ एक बरन भए सुरसरि नाम परो॥

[भजन समाप्त हो जाता है—महंत संतसरन जी आते हैं। मुकुन्द के साथ खड़े होकर बड़ी धीमी आवाज में जाने क्या पढ़ते हैं—दोनों हाथ जोड़े खड़े हैं—अहमद की बीबी चँवर डुला रही है, उसका बेटा घड़ियाल रख कर अलग एक ओर सर झुकाये चुप खड़ा है]

वकील सा०—(*राय साहब की ओर मुड़ कर*) अरे यह कौन है—यह···अभी जो घंटा पीटता रहा ।

राय साहब—(*मुस्कुरा कर*) अजी छोड़ो उसको, वह देखो··· वह वहाँ सिंहासन के पास। क्या भोली अदा से चँवर डुला रही है···बड़ी वैसी है—है न ?

वकील सा०—जाने दो—कोई भी हो, तुम्हें क्या ?

लहना सिंह—भला वह मन्दिर में क्या खुलेगी···खुल खिलती किसी महफिल में—क्यों ?

वकील सा०—तुम्हारे मुँह कौन लगे—शर्म नहीं आती, भगवान के सामने ऐसी बातें—आँखों में वासना की सुरा तक छलक उठी। सच है—

'अच्छी सूरत भी क्या बला ठहरी।
जिसने देखी, बुरी नज़र देखी ॥'

राय साहब—अंगूर खट्टा है तुम्हारे लिये न—अच्छा, यह तो कहो तुम्हें पता है, यह कहाँ की···

वकील सा०—उस पार की कोई होगी—ऐसी कितनी मारी-मारी फिर रही हैं बेचारी—चेहरा ही गवाह है कि दुखिया है वह—आँखों में नमी भी साफ है।

(*महावीरी झंडे के सेनानायक ठाकुर साहब का प्रवेश एक सिपाही के साथ—दोनों के हाथ में तलवार-भाला*)

ठाकुर सा०—क्यों जी, देख लिया मठ-मन्दिर का कोना-कोना। बगीचे की झाड़ी-वाड़ी भी—कोई तुरुक यहाँ छिपा तो नहीं।

सिपाही—भला इस मन्दिर के आस-पास—किसी को कुत्ते ने काट खाया है क्या—यहाँ आयगा छिपने...

ठाकुर सा०—(*सिपाही के कान में*) अरे इस मठ के महाराज जो ज़रा वैसे हैं—समझे ?

सिपाही—सो क्या ?

ठाकुर सा०—चाहते हैं कि यहाँ के मियाँ-मुल्ले भी हमको अपना ही सा मानें—वे ठहरे भी इसी मठ की रैयत।

सिपाही—फिर तो उनके होश की दवा....

ठाकुर सा०—वह तो होकर रहेगी आज। हमारे सामने तो अब उनकी एक न चलेगी।

(संतसरन जी स्तोत्र समाप्त कर प्रणाम करते हैं और इस ओर मुड़ते हैं—उसी पल काली मन्दिर के दुर्गादास जी का प्रवेश—हाथ में कटार लिये)

दुर्गादास०—*(संतसरन जी की ओर मुड़ कर)* हाँ जी, आज यह नई सूरतें दिख रही हैं यहाँ *(अहमद की बीबी और बेटे की ओर इशारा है)*

संतसरन०—तो हुआ क्या ? मन्दिर ही तो ठहरा—जो आये··

वकील सा०—*(पास आकर)* अच्छा जी, वह कौन है *(अहमद के बेटे की ओर इशारा)* लग तो रहा है कि कहीं देखा है उसे। क्या नाम है··नहीं नहीं··वह कैसे हो सकता है भला···

संतसरन०—अजी वह तो एक शरणार्थी ठहरा।

दुर्गादास०—जानो तुम—मगर यों मन्दिर के अन्दर बगैर जाने-सुने..

संतसरन०—*(अहमद के बेटे की ओर मुड़ कर)* लाओ भई, वह प्रसाद का थाल तो उठा लाओ ..चरणामृत का पात्र भी।

अ० का बेटा—जी, लाया।

(प्रसाद का थाल उठा कर लाता है—उसी थाल में चरणामृत का पात्र भी रख देता है; संतसरन जी चरणामृत लेते हैं और पीते भी हैं)

संतसरन०—लो, वकील साहब, तुम भी लो।

वकील सा०—जी, प्रसाद भी।

संतसरन०—हाँ-हाँ, जरूर···

(वकील साहब भी लेते हैं—अंजुरी में लेकर सर छुलाते हैं, फिर पीते हैं—प्रसाद का दोना भी लेते हैं)

संतसरन०—*(दुर्गादास जी की ओर मुड़ कर)* तुम, तुम नहीं लोगे अभी ?

दुर्गादास०—रखो भी। वैसी जल्दी भी क्या है—अच्छा जी, वह कौन है जो चँवर डुला रही है वहाँ।

संतसरन०—वह भी एक शरणार्थी ही ठहरी। कहीं की न रही बिचारी...आई है प्रभु की शरण में।

दुर्गादास०—मगर यों सिंहासन के पड़ोस तक ले जाना तो बड़ी वैसी बात ठहरी। क्या जाने उस ओर के मुसलमान गुण्डों के हाथों··जाने दो। ऐसी बड़ी कृपा ही थी तो शास्त्रीय विधि से शुद्धि कराकर ही तो····

संतसरन०—अजी उसमें क्या रखा है—बड़ी दुखिया है बिचारी।

दुर्गादास० -(*मुस्कुरा कर*) तो लाओ, उसे हमें दे दो।

संतसरन०—तुम्हें ! फिर तुम्हें क्या ?

दुर्गादास०—(*ज़रा सोचकर*) हैं हमारे पड़ोस में एक कर्मकाण्डी-पण्डित—कुछ ऐसे-वैसे भी नहीं—उसकी शुद्धि का कोई रास्ता दिखा पायें···

बकील सा०—जी, घड़ों गंगा जल भी रखते हैं अपने साथ।

संतसरन०—(*मुस्कुरा कर*) गंगाजल ! अजी मन चंगा तो कठौती गंगा—भूल गये···

यः स्मरेत् पुण्डरीकाक्षं स बाह्याभ्यन्तरः शुचिः।

दुर्गादास०—तो लिये रहो उसे—बड़े बनते हो··

संतसरन०—राम राम ! तुम्हारी भी क्या बातें हैं—एक दुखिया के साथ ऐसी···

दुर्गादास०—(*जोश में*) चाहे कुछ कहो, वह हिन्दू तो वैसी रही नहीं अब—मुसलमानों के हाथ पड़ बच पाई होगी थोड़े ही।

राय सा०—जी, यही तो बात है।

सतसरन०—जैसी भी हो—मुसलमान ही सही···तो फिर ?

दुर्गादास०—(*तैश में*) अजी वह कोई वैसी मुसलमान होती तो फिर हमारे मन्दिर की बलिवेदी पर चढ़ती या हाथों-हाथ···

संतसरन०—हाँ, कहे जाओ··यारों की वासना की वेदी पर। है न ?

दुर्गादास०—आज वह वासना नहीं—बदला है, बदला। जैसे को तैसा—समझे। लो, जा भी रहे हैं हम आज

तुम्हारे इसी गाँव में उनके किये का जवाब देने—मियाँ की जूती मियाँ के सर।

संतसरन०—मगर इन बेचारों ने कब क्या कुछ किया है कि जवाब दोगे। यह तो गऊ ठहरे'' गऊ, सरासर गो-हत्या होगी'' हां।

वकील सा०—जी, सही है कि आपकी इस बस्ती के मुसलमानों ने अब तक कहीं कुछ नहीं किया, मगर साथ-साथ यह भी सही है कि कल कहीं मौक़ा मिल गया, तो फिर कुछ उठा न रखेंगे ''और कसूर माफ़, गऊ तो हम भी थे कहीं। किसी ईमानवाले की आँख में दो बूँद पानी भी उतरा? सुना है न, तोते की तरह आँखें फेर लीं मुहल्ले वालों ने भी उस पार'' इनकी थाह कभी मिलने की है।

दुर्गादास०—नाहक़ सिर चढ़ा रखा तुमने...लो, लेने के देने पड़े आज...

वकील सा०—क्या करें संत महाराज—अपने शील, अपने दिल से जो मजबूर ठहरे...

दुर्गादास०—अजी ऐसे दिल की देख-रेख अपनी बेलौस बुद्धि के हाथों न रही तो फिर कोरी सहृदयता भी जान की जंजाल हो जाती है। और हमसे जो कहा सो कहा, नाम न लेना हमारे दल के महारथियों के सामने—आस्तीनें चढ़ी हैं उनकी, नहीं तो तुम्हारे उस दर्जी के सर जैसी बीती.. सुना है न—कैसे क्या हुआ...बस वही बात हर ऐसे जयचन्द के सर...

संतसरन०—अरे भई, हम ठहरे वैष्णव वैरागी...हमें क्यों इस राग द्वेष के चक्कर में खींच रहे हो भला—

दुर्गादास०—अच्छा जी'''कल समझेंगे तुमसे, आज समय नहीं, और हाँ कहे देते हैं लिये जायेंगे इस शरणार्थी युवती को भी—तुम्हारे मान की नहीं ''

संतसरन०—तो चले कहाँ?

दुर्गादास०—चले कहाँ! कहा न, चल रहे हैं होली खेलने होली, यहीं तुम्हारे मुसलटों की टोली में। बस चलो भई,

बढ़े चलो····बोलो बजरंग बली की जय *(नेपथ्य से भी गूंजते हुए नारे)*।

संतसरन०—नहीं नहीं. ऐसा न करो—सुनो भी।

(कोई सुनता नहीं। महंत जी, कुन्दन और मुकुन्द चाह रहे हैं हाथ-पैर थामना मगर दुर्गादास जी और वकील साहब हाथ-पैर झटक देते हैं, चिल्ला कर पुकारते हैं 'बैंड बजाओ—बैंड'—नेपथ्य में बैंड़ बजता है और बजरंग बली के नारे तेज़ होते हैं)।

[पर्दा गिरता है]

तृतीय अंक

प्रथम दृश्य

[महन्त सन्त सरन जी एक चौकी पर बैठ कर कुछ पढ़ रहे हैं, सामने कोई पुस्तक खुली है। उनके दोनों ओर एक आध कुर्सी और चौकी हैं। मन्दिर का बाहरी बरामदा है यह। महन्त दुर्गादास जी का बड़े तैश के साथ प्रवेश; साथ में वकील साहब भी हैं]।

दुर्गादासजी—(*बड़े जोश में*) क्यों जी, यह क्या सुन रहे हैं हम—ऐसे गिर गये तुम ?

संतसरन०—क्यों, क्या हुआ ?

दुर्गादास०—तुम तो कभी के ऐसे झूठे पाखण्डी न थे—आज यह किस माया की मोहिनी···।

संतसरन०—आखिर कहो भी—बात क्या है ?

दुर्गादास०—वह शरणार्थी थी ? भगवान सामने हैं, सच कहना।

संतसरन०—अवश्य। आई थी वह भगवान ही की शरण में...

दुर्गादास०—तो वह तुम्हारे दर्जी की बीबी नहीं ?

संतसरन०—मैंने कब कहा कि नहीं। बस यही कहा था न कि शरणार्थी है—सो झूठ क्या ?

वकील सा०—ओ यह दलील !

दुर्गादास०—बस वही अश्वत्थामा वाली—*'नरो वा कुंजरो वा'* है न ? मगर इस दलील की दाल तो गलने से रही। और वह लौंडा ..उस मियाँ का बेटा नहीं था ?

संतसरन०—मैंने कब कहा कि नहीं।

दुर्गादास०—तो तुम क्या समझते हो कि चँवर डुला, घंटा बजा या चरणामृत की दो बूँद मुँह में लेकर वे अब विधर्मी न रहे—उनकी शुद्धि हो रही...

संतसरन०—उनकी जान में जान तो आ गई—और चाहिये क्या ? कहीं और गुजर न देखकर वह इस मन्दिर

की पौर पर आई शरन ढूँढ़ने। प्रभु की मर्ज़ी—शरण मिल गई। सुना है न, *'राखत आये लाज शरन की।'* और जब एक गणिका तक वंचित न हुई, फिर वह तो एक भले घर की....

वकील सा०—मगर एक मुसलमान आप के बुत के आगे यों सिर झुकाये—यह तो एक पहेली ठहरी...

संतसरन०—ऐ लो! उसने क्या आज कुछ नयी की है? जिस मूर्ति के पहिराव-शृङ्गार के लिए किस श्रद्धा—किस निष्ठा से सालों-साल अच्छा से अच्छा जामा-जोड़ा तैयार करने में ईमान पर कोई आँच ही न आई, तो उसके आगे दो पल चंवर डुला देने में रखा ही क्या है। वह ठहरी भी इसी ड्योढ़ी की नमकख्वार—इस मठ और मन्दिर की रैयत। भला वैसी बेबसी में वह कहाँ अपना सर फोड़ती—समझे।

वकील सा०—फिर भी वह मुसलमान पहले है—आपकी ड्योढ़ी की...

संतसरन०—माना कि एक मुसलमान के संस्कार को यह वैसा स्वीकार न होगा। मगर समझदारी का तकाज़ा तो यही ठहरा कि वैसी स्थिति में संस्कारों की बागडोर को अपनी मुट्ठी में थाम रखे।

वकील सा०—है वह वैसी समझदार।

संतसरन०—है नहीं? आखिर वह अहमद की बीबी तो ठहरी। किसी कठमुल्ले की तंगनज़री होती तो वह इस मन्दिर की पौर पर पनाह ढूँढ़ती? वह तो मानवी है कि राम और रहीम की जबान दो हो—पुकार तो एक ही ठहरी।

वकील सा०—ऐसे जो कहिए। हमें तो लगता है कि अहमद ने जो खेल खेला, कुन्दन की जान के उबार के लिए मस्जिद की पौर पर—कुछ वैसा ही तमाशा आपने भी....

संतसरन०—वही सही। मेरे मन्दिर की मर्यादा दून पर ही रही—एक शरणार्थी की जान उबार दी।

दुर्गादासजी—(*आवेश में*) तुम्हारी भी क्या बातें हैं। इस तमाशे से तो तुम्हारा ही गया—उनका क्या ? उनकी तो बन आई—मन्दिर के अन्दर घुस कर सब छू-छा दिया उन्होंने। मैं पूछता हूँ—उसके हाथ से प्रसाद कैसे पा लिये ? रह गया प्रसाद वह ?

सन्तसरन०—वह कुछ जूठा थोड़े ही था—न किसी ने अपनी ओर से कुछ मिला दिया था उसमें।

दुर्गादासजी—मगर उस नापाक ने छू तो दिया—

सन्तसरन०—भला यह कोई बात है कि किसी के छूने से वह प्रसाद अपनी सत्ता तक खो बैठा।

दुर्गादासजी—(*तैश में*) वह एक विधर्मी जो ठहरी—म्लेच्छ...

सन्तसरन०—वह भी मनुष्य ठहरी, जैसे हम या तुम—वही इन्द्रियाँ, वही सब कुछ। तो फिर वह अपनी बोली में राम को रहीम पुकारती है—इसलिए राम के मन्दिर में आकर वह आदमी की खाल से गिर गई। अरे भई—

एकै तुचा हाड़ मल मूतर एक रुधिर एक गूदा।
एक बूंद सो सृष्ट कियौ है, को ब्राह्मण को शुद्रा॥
रज गुण ब्रह्मा तम गुण लेकर सत्त गुना हरि सोई।
कहहि कबीर राम रमि रहिये हिन्दू तुरक न कोई॥

दुर्गादास०—(*जोश में*) बस करो, बस। मैं पूछता हूँ—कितनों ने उस प्रसाद को पाया—किसी की जात बची ?

संतसरन०—(*मुस्कुरा कर*) ऐसी छुई-मुई ठहरी यह जात। तुम्हारी हो, हमारी नहीं।

वकील सा०—भला महाराज, कहाँ ऐसों की परछाईं भी नहीं छूने को—कहाँ ला के सर पर बैठा रखी''कहीं आपकी आँख बचा के सारा प्रसाद ही जूठा कर दिया हो, तो—इनका एतबार क्या ?

संतसरन०—मगर तुमने तो उसे जूठा समझ कर नहीं खाया—तुम्हारा क्या गया ? हाँ, जो जैसा करेगा वैसा पावेगा। जाने वह—तुम्हारा क्या ?

दुर्गादास०—उस हरामज़ादी को तुम भगवान के सिंहासन तक ले गये—जहाँ बग़ैर नहाये-धोये हम जैसों का भी प्रवेश नहीं—यह कोई साधारण-सी बात है ? और उसने क्या-क्या नहीं रौंद दिया होगा यहाँ। वह मूर्ति की क्या वैसी''''हाय ! अपने भगवान् को भी कहीं का न रखा''''

संतसरन०—ऐ लो, चाह रहे हो उसे भी अपने साँचे में ढालना। यह भेद-भाव तो हमारे घर का भूत ठहरा। वहाँ कैसा ? जब एक गई-बीती भिङ्गनी के जूठे बेर तक खुशी-खुशी खा लिये, उसके भाव देखकर, तो फिर अपनी पौर पर माथा फोड़ती एक मुसलमान दुखिया की आँखों से आँसू उठाने में वह अपना हाथ सिकोड़ बैठता ? ऐसा दुरंगा नहीं है वह। और वह किसी गिरोह या सम्प्रदाय का न रहकर मानव-मात्र का रहता है तो उसकी प्रतिष्ठा को समृद्धि ही रही—कुछ क्षति नहीं।

दुर्गादास०—तो तुम मुसलमानों के लिये अपने मन्दिर का दरवाजा खोल रखोगे'' ऐसा ?

संतसरन०—जो भी आये, दिल से आये, कोई आपत्ति नहीं। जानते हो न—

सियाराम मय सब जग जानी।
करौं प्रणाम जोरि जुग पानी॥

वकील सा०—तो फिर लीजिये—डोम-चमारों की भी बन आई आपके मन्दिर में।

संतसरन०—इसमें कब किसी को आपत्ति ठहरी भला।

दुर्गादास०—लो सुनो, चाह रहे हो उन्हें भी सर-आँखों पर बिठाना—

संतसरन०—पूछना ही क्या ? हरिजन-सेवा का व्रत तो अन्याय का परिमार्जन ही नहीं; सदियों के अत्याचार का प्रायश्चित्त भी ठहरा।

वकील सा०—मगर जैसे वे हैं—नापाक, अशुद्ध।

संतसरन०—अजी, अपनी आत्मशुद्धि देखो—वही कसौटी ठहरी। बाहरी टीम-टाम कोई चीज़ नहीं।

दुर्गादास०—तो उनके लिये यह मन्दिर का पट खोल रखते हो क्या ?

संतसरन०—अजी अपने दिल का दरवाजा खोलो, मन्दिर का दरवाजा तो गांधीजी कभी के खोल चुके—आज कुछ नया थोड़े ही खुलना है। हाँ, तुम्हारी आँखें आज भी नहीं खुलीं तो···

दुर्गादास०—मगर सब बराबर ही रहते तो गीता की वह वाणी कैसे आई कि—

'चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुण कर्म विभागशः'

संतसरन०—वह तो साफ गुण और कर्म से है—कुछ जन्म से नहीं। वह होता तो दादू या रविदास की जयन्ती आज हमारे ब्राह्मण देवता मनाते, और यह जुलाहा कबीर संतों का सिरताज होता ?

दुर्गादास०—ठहरो भी, यह वहम छोड़ो। मैं पूछता हूँ, कितने साल से तुम इस मठ पर हो, कभी पहले भी किसी दुखिया मुसलमान को अपने मन्दिर में ठौर दिया ? उसके हाथों प्रसाद पाया ? तब भी तो तुम बड़े धर्मात्मा ही बनते रहे।

संतसरन०—*(मुस्कुराकर)* बस बनते ही रहे न। हुए कहाँ ? आज धर्मान्ध तो हज़ार मिलते हैं पर कोई धार्मिक हज़ार में एक।

वकील सा०—ओ ! यह बात है।

संतसरन०—जी, बनना और है—होना और।

वकील सा०—तो आज ?

संतसरन०—आज बनना न बना, होना ही पड़ा।

वकील सा०—सो कैसे ?

संतसरन०—अन्दर से जाने क्या ऐसी लहर आई कि दिल हिल उठा—वह बनाव गिर गया।

दुर्गादास०—ऐसा कमाल है उस दर्जिन की आँख का जादू।

संतसरन०—जादू नहीं, आँख का आँसू कहो—आँसू।

दुर्गादास०—जी, उस आँसू की धार से कर्त्तव्य गल गया—क्यों ?

संतसरन०—धुल गया। निखर गया—कहो।

दुर्गादास०—लो, बातें न बनाओ। ऐसी बेतुकी किसी और को देना—हाँ।

संतसरन०—तुम्हीं देखो—जब मसजिद के साये में अल्लाह की पुकार ने एक हिन्दू की जान बख्श दी है तो फिर मन्दिर की पौर पर 'राम' पुकार कर भी एक मुस्लिम की जान जोखिम में पड़ती ? किसकी किरकिरी होती भला ? आखिर, क्या सोचती वह, यह तो पत्थर है, पत्थर··· मेरे आँसू के तरारे भी पिघला न पाये।

दुर्गादास०—(व्यंग्य से हँस कर) क्या क्या दलीलें तुम्हें सूझ रही हैं आज। स्याह को सुपैद कर देना कोई तुमसे सीखे! ऐसी वकालत! वाह री नारी और वाह री तेरी मोहिनी!

संतसरन०—मैं कहता हूँ जब अहमद इस मन्दिर का नमक अदा करने में जान तक की बाजी लगा बैठा, तो फिर इस मन्दिर के प्रभु उसकी बीबी-बच्चे को शरन देने में अपने हाथ सिकोड़ बैठते ?

दुर्गादास०—यह लो, उठे हो भगवान के सर पर खेलने····

संतसरन०—सच मानो, हमारे किये होता ही क्या। करता-करावा तो कोई और है। यह तो उसी की प्रेरणा थी कि हमारी आँखें खुल गईं। जानते हो न, हमारे अन्दर दोनों ही ठहरे—भगवान—शैतान, दोनों। शैतान ने हठधर्मी की दुहाई दी, पर भगवान ने हमारे धर्म के मर्म की गहराई दिखाई और हमने बस भगवान की सुनी, शैतान की नहीं।

दुर्गादास०—मगर मैं तो समझता हूँ कि तुमने शैतान ही की सुनी, भगवान की नहीं। यह बात और है कि जब आँख पर काम अपना जाल बिखेर देता है तो फिर शैतान और भगवान की पहचान आसान नहीं।

संतसरन०—नहीं-नहीं, हमारे हृदय के तारों पर तो तुलसी की

यह वाणी झंकार दे उठी कि—

'पर हित सरिस धर्म नहिं भाई।
पर पीड़ा सम नहि अधमाई॥'

आखिर वैष्णव धर्म का मूल रूप ठहरा—मानव धर्म। तुम्हारी दृष्टि पर तो लौकिक आचार रस्म है, हमारी दृष्टि पर उसका आधार—मर्म। और जब ऐसी परिस्थिति आई कि एक दूसरे से टकरा उठा, तो फिर हमने धर्म का स्वरूप देखा, उसका बाहरी रूप नहीं।

वकील सा०—(*व्यंग्य से*) क्या जाने किसी के रूप का ही चमत्कार हो कि आज पहली बार धर्म का स्वरूप दिख गया। कल तक तो आपने देखा किया वही सामने का धनुष-बाण लिये पत्थर का एक रूप···और आज झलक उठा सच्चा स्वरूप! वाह रे नारी का रूप!

संतसरन०—(*मुस्कुरा कर*) जी हाँ, आज पहली बार देखा आँखों में आँसू लिये करुणा का जीवन्त रूप···भला सोचो तो, जब अहमद एक मुसलमान होकर, अपने भाई-बन्धु का कोपभाजन होकर भी हमारे वैष्णव धर्म का प्रतिपालन कर गया···

दुर्गादास०—अच्छा, वैष्णव धर्म!

संतसरन०—जी वैष्णव धर्म! माना कि इस्लाम का भी मूल स्रोत दूसरा नहीं। तो फिर उस धर्म के एक माने-जाने आचार्य होकर हम अपना पानी आप खो बैठते। और अपना ही क्यों—भगवान का भी····

वकील सा०—अच्छा, यह बात है!

संतसरन०—भला वह एक हिन्दू दुखिया के सर पर हाथ देगा, एक मुसलमान दुखिया के सर पर नहीं! द्रौपदी की पुकार सुन लेगा—अहमद की बीबी को नहीं···क्यों? चूँकि····

दुर्गादास०—रहो भी, हिन्दू घरों की कितनी द्रौपदी की लाज लुट रही है दिनदहाड़े। तुम्हारा भगवान उनकी तो सुने, उनकी झांझर नैया को तो पार लगाये—

संतसरन०—अजी उनकी भी सुनेगा वह। जरूर सुनेगा—देख लेना। कोई दिल उड़ेल उसे ढूँढ़े तो, उसे पुकारे तो····

दुर्गादास०—बस, बस करो। यह बेल अब मढ़े नहीं चढ़ती। मैं पूछता हूँ, दे पाआगे उन्हें कहीं खड़े होने की जगह। आये हो भगवान के मत्थे खेल हमारी आँखों में धूल झोंकने।

संतसरन०—अरे भई, आचार या रस्म तुम्हारी निगाह में सनातन जो रहा हो, वह कुछ चिरन्तन नहीं। आज हर वैसी परम्परा का नये सिरे से मूल्यांकन कर उसमें प्रयोजनीय हेर फेर जरूरी ठहरा ···तो एक अनित्य के मोह में पड़ नित्य को छोड़ बैठना तो अपने हाथों अपना गला घोंटना है जैसे।

वकील सा०—तो वह नित्य···चिरन्तन है क्या ?

संतसरन०—वही 'अविभक्तं विभक्तेषु'—आत्म-भाव। घट-घट राम। क्या तुम, क्या हम और क्या वह—समझे।

दुर्गादास०—(*व्यंग्य से*) जी, समझ गया। वह न आती न तुम्हारी आँखें खुलतीं—क्यों ? हमारी भी आँखें खुल रही हैं कि आदमी बनता है कुछ और रहता है कुछ। हमने भी देख लिया आज कि तुम क्या हो, तुम्हारा स्वरूप क्या है, तुम्हारा रूप क्या है।

संतसरन०—(*हँसकर*) तो देख ली हकीकत तुमने ?

दुर्गादास०—जी ! वह वैसी रूपवती न होती तो यह समदृष्टि की अनुभूति टापती ही रह जाती तुम्हारे अन्दर··· और अभी तो आगे देखनी है—आगे, जब इस मन्दिर की पुजारिन बनकर रहेगी वह और वह लौंडा तुम्हारा चेला···उत्तराधिकारी—है न ?

संतसरन०—तो फिर देख चुके तुम। उन्हें तो कल रात ही थानेदार को सुपुर्द कर दिया कि दो-चार सिपाहियों की देख-रेख में उस पार मुसलमानों की टोली में पहुँचा दो।

दुर्गादास०—(*जोश में*) ऐ लो, वह मुनियाँ उड़ गई। क्या मन्दिर, क्या मूर्ति, क्या तुम, सबका पानी उतार, नष्ट-भ्रष्ट

कर बेलाग निकल गई। ओ हो, बड़ा तीर मारा तुमने, यों अपना धर्म कर्म··· सब कुछ लुटा कर जाने कहाँ की एक तुर्क मालजादिन के लिये। है इस पाप का कोई प्रायश्चित्त ?

संतसरन०—लो, भला क्या पाप किया! उसकी प्रेरक भावना को देखो। आखिर पाप या पुण्य तो अपनी बुद्धि में है—कुछ कर्म में नहीं। याद है न गीता की वह वाणी—

'यस्य नाहं कृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते
हत्वापि स इमान् लोकान् न हन्ति न निबध्यते।'

तो मेरे उस कर्म में कहीं अपने स्वार्थ या वासना की वृत्ति होती तो चाहे जो कहते तुम, यहाँ तो बस करुणा थी केवल।

दुर्गादास०—मगर वह है कहाँ, सच कहो। मेरी आत्मा तो कह रही है कि वह यहीं कहीं होगी—मठ या मन्दिर के अन्दर···

संतसरन०—तुम्हारी आत्मा नहीं, तुम्हारी वासना की घुस-फुस है यह। वही तुम्हें ऐसी इँगित देती होगी। सच मानो, जा चुकी वह—वापस आने की नहीं।

दुर्गादास०—*(जोश में)* ओहो! बड़े आये हैं धर्माचार्य जी। मठाधीश की गद्दी जो छाई है आँखों पर। मगर अपनी महंती के ताव में न रहना महाराज, अब ऐसी धाँधली नहीं चलने की।···कहाँ छिपा रखा है उसे, कहो। हम कुछ अकेले ही नहीं आये हैं यहाँ··· कितने आये हैं प्रतिकार ढूँढ़ने। बस, एक इशारे पर अभी···समझ रखो ··जी।

संतसरन०—*(जरा सोचकर)* हमारी गर्दन ही लोगे न ! लो, हाज़िर है।

दुर्गादास०—अजी गद्दी पहले। तुमने तो अपना धर्म-कर्म, मठ-मन्दिर, यह आसन, सब कुछ सत्यानाश कर धर दिया। अब तुम्हें कोई क्यों पूछे—बोलो।

संतसरन०—कोई बात नहीं। यह आसन रहा, रहा—न रहा, न रहा। जिसे जनता चाहे उसे इस आसन पर

ला रखे। मगर चाहे कुछ हो, हम अपने धर्म को एक सम्प्रदाय का जामा पहना दें ···

दुर्गादास०—(*जोश में*) धर्म! यही धर्म है जैसे। कहते लाज भी नहीं आती। धर्म! Devils quoting Scriptures...

संतसरन०—हाँ, एक बेकस का गला घोंट पाते तो धर्म का पल्ला थाम पाते—क्यों? पशुता का नंगा नाच ही धर्म है न आज।

दुर्गादास०—ज़रा सोचो तो, तुम ठहरे मठाधीश-धर्माचार्य। कहाँ आये थे अपने धर्म के राज्य के सदर फाटक पर पहरा देने आठो पहर—कहाँ खुद ही उठे चोर की तरह सेंध देने···

संतसरन०—भई, तुम्हारे साथ तो धर्म बस बँधे-बँधाये नियमों का एक घेरा ठहरा—कहाँ हमारे साथ तो अध्यात्म का वह चौड़ा रास्ता—वह मुक्त वायुमण्डल···

वकील सा०—ऐ लो! महंती की मसनद और अध्यात्म का अनुशीलन—क्या खूब!

दुर्गादास०—अच्छा, कहाँ है वह तुम्हारा···क्या नाम।

संतसरन०—कौन मुकुन्द···कुन्दन?

दुर्गादास—कुन्दन! नाम न लो। वह तो ठहरा तुम्हारी ही तरह धर्मच्युत, जातिच्युत। रहा मुकुन्द—जाने कैसा होगा वह। कल तो कह कर भी मुकर गया, साथ न दिया। जाने क्या पिला दिया है तुमने कि यहाँ हिन्दुओं में कोई बूता नहीं जैसे। कल अपने घरों के अन्दर पड़ोसी मुसलमानों को ऐसे छिपा बैठे कि पता पाना भी मुश्किल था। उनकी औरतें तो हिन्दू-घरों में पैठ गईं—रसोई घर तक।

संतसरन०—(*मुस्कुराते हुए*) तो आखिर इन गरीबों पर धावा बोल कर क्या पाया तुमने? कितने हाथ आये कल?

दुर्गादास०—हाथ आये! तुम्हारा हाथ जो उनके सर पर है। रह गये हम हाथ मल कर। कहा न, यहाँ के हिन्दू हिन्दू नहीं, उनका विश्वास नहीं।

संतसरन०—तो एकाध घर भी फूँक न पाये क्या ?

वकील सा०—कहाँ जला पाये—दो चार झोंपड़े बस। यहाँ तो हिन्दू-मुसलमानों के घर ऐसे मिले-जुले हैं कि खैर नहीं। दीवार से दीवार तक मिली है।

संतसरन०—अजी दीवार ही नहीं—दिल भी मिले-जुले ठहरे···

दुर्गादास०—रहो भी ! वह प्रेम-डोर तो टूट चुकी। काँग्रेस भी जोड़ न पाई। उड़ गया उसका धुर्रा, क्या गाँधी—क्या जवाहर ! तुम्हारी क्या बिसात !

संतसरन०—तो क्या खाली हाथ लौट गया तुम्हारा दल ?

वकील सा०—एक बूढ़ा जुलाहा तो हाथ आया—वह भी कुछ यहाँ का नहीं।

संतसरन०—कुल एक ! पहाड़ खोद कर चुहिया निकाली···

दुर्गादास०—चारा ! वह भी तुम्हारे गाँव से दूर झाड़ियों में छिपा बैठा था—उधर हमारे मन्दिर के आस-पास।

संतसरन०—तो फिर बलि चढ़ा दी ? भर दिया लहू से माँ चण्डी का खप्पर ?

दुर्गादास०—तो क्या तुम्हारी तरह उसके हाथों माँ की आरती कराते—प्रसाद पाते।

संतसरन०—(*मुस्कुरा कर*) मगर बलि का प्रसाद तो तुमने पाया ही होगा—भेड़-बकरे से तो स्वादिष्ट ही होना चाहिए।

दुर्गादास०—(*व्यंग्य से*) जी, तुम्हारी शुद्धि के लिये वही प्रसाद उपयुक्त होता—क्या विचार है ?

संतसरन०—भला सोचो तो, एक निरपराध की जान लेकर क्या पुण्य कमाया तुमने। उधर के उन मज़हबी जल्लादों की बलि चढ़ाते तो खैर, एक बात भी थी—अपने किये का जवाब पाते—

दुर्गादास०—तो पूछना ही क्या। चलो न 'शुभस्य शीघ्रम्'। दाँतों पसीना आ जायेगा। तुम्हीं रहो आज हमारी सेना के नायक। हम अभी राय साहब को सूचना किये देते हैं···ठाकुर साहब को भी।

संतसरन०—कहाँ है वह तुम्हारी सेना ?

दुर्गादास०—वह क्या मन्दिर के आस-पास बाट जोहती खड़ी

है। लो, उठो, देर न करो, तुम्हारे पाप का प्रायश्चित्त भी आज यहीं ठहरा···

संतसरन०—हाँ, जो अहमद की सजा हुई उधर, वही इधर मेरे लिये भी···

दुर्गादास०—(*हँसकर*) अजी, घमंड तो बड़े-बड़ों का न रहा। तुम्हारी क्या हस्ती ? भूल गये—

'जो नहि दण्ड करौं खल तोरा।
भ्रष्ट होइ स्रुति मारग मोरा॥'

संतसरन०—मगर तुम क्यों भूले जा रहे हो कि—

'दया धरम को मूल है, पाप मूल अभिमान।
तुलसी दया न छाड़िये जब लौं घट में प्रान॥'

और यह दया तो सेवा ठहरी। वैसी दया नहीं कि अपनी आन प्रधान है और करुणा बरायनाम। एक ओर ताव लेता हुआ दानी, दूसरी ओर दीन···भिखारी।

वकील सा०—मगर कोई वैसा दया का पात्र हो तब न, उन जल्लादों के साथ दया कैसी ?

संतसरन०—हाँ जी, मैं जानना चाहता हूँ कि आज फिर क्यों अपनी सेना लाने गये इधर, कल तो इस बस्ती के इने-गिने बेकसूर मुसलमानों पर अपने दिल का बुखार···

दुर्गादास०—ऐ लो ! तुम्हें पता नहीं क्या ? आज उस पार के मजहबी जल्लादों का लश्कर हजारों-हजार टूटा चाहता है इसी ओर हिन्दुओं को लूटमार करने···

संतसरन०—लो बस, कल के तुम्हारे धावे का जवाब दे रहे हैं वे···चल पड़ा चक्र न—Vicious circle...

वकील सा०—जो हो, अब तो जो बला आये····आये, मेरी बला से। हम भी इधर तैयार ही आये हैं। वह लहू की होली होगी कि बस। मगर हाँ, इस गाँव के आपके पाले-पोसे मियाँ-मुल्ले···क्या होगा उनका रवैया आज, देंगे हमारा साथ ?

संतसरन०—अपने से ही पूछते····तुमने उनके साथ क्या सलूक किया कल ?

दुर्गादास०—मगर यहाँ के हिन्दुओं ने तो तुम्हारी शह पाकर

उनके बचाव के लिये कुछ उठा न रखा कल····तुम्हारे गाँव का कहाँ कोई मियाँ-मुल्ला हाथ आया—बोलो।

संतसरन०—तो इतमिनान रखो—ये भी कोई ऐरे-गैरे नहीं, अपने पड़ोसी हिन्दू भाइयों के बचाव के लिये, अपनी जान तक हथेली पर रख देंगे। कुन्दन-कुन्दन!

जो आया (*नेपथ्य से आवाज—कुन्दन का प्रवेश*)

संतसरन०—सुना है न तुमने···आज उधर से जल्लादों का लश्कर···

कुन्दन—जी, सब पता है—मगर यहाँ क्या? यहाँ तो किसी मुसलमान भाई पर कोई आँच न आई कल। आज तो पहला मोर्चा लेकर रहेंगे वे ही···

वकील सा०—ऐसा? आयेंगे इस मठ-मन्दिर के बचाव के लिये? पहला मोर्चा तो यही ठहरा···

कुन्दन—इसमें पूछना ही क्या? ऐसा खून सफेद हुआ रहता तो उनका रवैया कुछ और होता। अच्छा जी, नमस्ते···

(*कुन्दन का प्रस्थान—मुकुन्द का प्रवेश*)

मुकुन्द—वह उस पार पहुँच गई बेदाग। अभी थाने का सिपाही आया है खबर देने।

संतसरन०—लो सुनो, कहाँ तुम समझते रहे कि कहीं इधर ही उसे छिपा रखा है हमने।

दुर्गादास०—हाय राम! ऐसे गिर गये तुम। उस पार तो कोई वैसी हिन्दू युवती न होगी जिसे मुहल्ले के मुल्लों ने··· जाने दो, क्या कहे कोई, और इधर तुम हो कि वैसी हाथ भी आई एक, तो वह छूट दे दी कि देवता का भी पानी उतार बेदाग निकल गई—तुम्हारी ही शह पाकर, और तुम्हीं ठहरे इस प्रान्त के माने-जाने धर्म-गुरु···कहीं यह सारी बातें फूटती हैं तो मेरे पड़ोस की बौखलाई जनता तुम्हारी वह मरम्मत कर देगी कि···

संतसरन०—(*दृढ़ता से*) कुछ परवाह नहीं। यही समदृष्टि ही हमारे धर्म की धुरी ठहरी। अब सर पर फूल बरसे या पत्थर—इस सत्य की निर्मम उपासना तो हमसे छूटने से रही।

(सिपाही का प्रवेश—पीछे से रामदास जी भी स्टेज पर आते हैं)

सिपाही—महाराज ! अभी खबर मिली है कि उस पार के मुसलमानों का जत्था अब इधर धावा बोलने से रहा, बदल गया उनका वह रुख—कोई डर नहीं है अब।

दुर्गादास०—*(चौंक कर)* हैं ! यह क्या कह रहे हो तुम···

वकील सा०—यह तुम बोल रहे हो या तुम्हारी अपनी कमज़ोरी बोल रही है।

सिपाही—जी, सच्ची बात है—पक्की। अहमद की बीबी ने जाकर उनका सारा रुख बदल दिया ! वह अपनी जान देने पर तुल गई कि तुम अगर उधर जाते हो तो मेरी लाश पर·· मेरे बच्चे की लाश पर ही जा पाओगे। उधर के हिन्दू भाइयों ने मेरी जान का उबार किया, क्या-क्या मोर्चे नहीं लिये ··अपने महंत जी की हमदर्दी की तो ऐसी बड़ाई कि····

वकील सा०—जी, आपने उनकी जान बचाकर कितनों की जान बचा दी दोनों ओर· ·

दुर्गादास०—*(सर झुकाकर)* भला वह नूरा मियाँ कैसे मान गया ? जब अहमद की भी उसने नहीं सुनी तो फिर उसकी बीबी में क्या ऐसे लाल जड़े हैं कि···

वकील सा०—*(हँसकर)* अजी, क्या नहीं जड़े हैं, कहिये ? वह तो इस भेष में गन्धर्व-लोक की कोई अप्सरा ठहरी—इधर आकर हमारे मन्दिर के देवता को खड़े-खड़े मोह लिया, उधर मस्जिद के बड़े मुल्ला नूरा मियाँ को। है इस सम्मोहन अस्त्र का कोई जवाब कहीं ? लीजिये, अच्छा ही हुआ, बला टली। हाँ, ठाकुर साहब को भी तो खबर कर देनी ठहरी···

सिपाही—जी, मैंने उन्हें जता दिया है। लौट रहे हैं वे···मैं भी चला; जै रामजी !

(सिपाही का प्रस्थान)

संतसरन०—लो भई, सुन लिया न, अब भी तुम्हारी आँखें खुलें कि बदला की जगह क्षमा रखो—अहिंसा रखो। वह फल कर रहेगी देर-सबेर—कोई बात नहीं। बस;

अपनी सेना-वेना भी सदा के लिये खत्म करो—यही अब समय की मांग ठहरी।...हाँ रामदास जो, ज़रा वह गाना तो रहे बेजोड़—'कोई नहीं है ग़ैर...'

रामदास०—अच्छा जी, सुनिये—(*गाते हैं*)

कोई नहीं है ग़ैर
बाबा...कोई नहीं है ग़ैर।
हिन्दू मुसलिम सिख ईसाई
देख, सभी हैं भाई भाई
काहे का यह वैर

राम समझ, रहमान समझ ले,
धर्म समझ, ईमान समझ ले
मस्जिद कैसी, मन्दिर कैसा,
ईश्वर का स्थान समझ ले
कर दोनों की सैर।

तृतीय अंक

द्वितीय दृश्य

[मन्दिर की फुलवारी—नेपथ्य की एक ओर से कुन्दन का प्रवेश, दूसरी ओर से ठाकुर राजकिशोरजी]

ठाकुर साहब—हाँ, भई कुन्दन ! यहाँ राय साहब गुलज़ारी लालजी आये हैं ?

कुन्दन—पता नहीं। आना तो चाहिये मन्दिर में दर्शन करने।

ठाकुर साहब—कहाँ आये कल। अच्छा, आओ तो मन्दिर में ढूँढ़ लें···

(एक ओर से कुन्दन और ठाकुर साहब जाते हैं, दूसरी ओर से संतसरनजी आते हैं, दुर्गादासजी और वकील साहब भी साथ हैं)

संतसरन०—तो आखिर क्या राय ठहरी ? तुम्हारी यह महाबीरी सेना बनी की बनी रहेगी अब भी ?

दुर्गादास०—ज़रूर, भला उन मुसलटों का एतबार क्या ? आज न आये, न सही। कल कहीं कुछ और ही गुल खिल गया तो···

संतसरन०—जानो तुम··फिर यह खींचवान तो ठंढी होने से रही—देख लेना।

वकील सा०—हमारे राय साहब तो किसी की सुनने से रहे··· ठाकुर साहब भी उनके साथ ही ठहरे। उनका तो खुल्लम खुल्ला एलान है कि जब उधर हमारा गुज़र नहीं तो इधर वे क्यों फूलें फलें। यहाँ जो इने-गिने रह रहे हैं, उन्हें तो फूटी आँखों भी नहीं देख पाते वे··सामने आये नहीं कि लीजिये उनका पारा चढ़ गया। और बात भी है, कब क्या हो जाय··कोई कैसे क्या कहे।

संतसरन०—अच्छा जी, हमारे राय साहब आये हैं इधर आज ?

वकील सा०—उन्हें तो देखा नहीं। हाँ, ठाकुर साहब ज़रूर आये हैं आपके इस मन्दिर में दर्शन करने।

(मुकुन्द का प्रवेश)

मुकुन्द—महाराज, एक दुखिया आई है यहाँ शरन ढूँढ़ने—वह तो अहमद की बीबी से भी कहीं लाचार···

संतसरन०—कहाँ है वह ?

मुकुन्द—वह क्या पिछवाड़े की झाड़ी की आड़ में खड़ी है—उसकी कोई सहेली भी है साथ। *(नेपथ्य की ओर इशारा करते हैं)*

संतसरन०—तो उन्हें इधर ही लिये आना···अभी आये हम··· हाँ जी, आइये तो मन्दिर के अन्दर, ठाकुर साहब की नब्ज़ टटोल लें····

(नेपथ्य की एक ओर से संतसरन जी जाते हैं—दुर्गादास जी और वकील साहब भी। दूसरी ओर से मुकुन्द दो युवतियों के साथ वापस आता है। युवतियों में एक बड़ी ही विचलित और चिन्तित है, लटें बिखरी हैं, पैर भी जैसे तिलमिला रहे हैं—दूसरी उसे सहारा दिये साथ आती है)

मुकुन्द—तुम यहीं ठहरना। महाराज आते ही होंगे।

(मुकुन्द लौट जाता है)

कमला—मैं तो इधर चचा को ढूँढ़ने आई—क्या पता था कि उनकी आँखों में पहचान तक न होगी।

सहेली—*(सोचकर)* क्या दिन आ गये। अपना चचा भी आँखें चुराने ही में अपनी पनाह देखता है।

कमला—लो, अपनी-अपनी पड़ी है न आज—कोई किसी का न रहा···

सहेली—बस, एक भगवान की शरन····

कमला—(चौंक कर) भगवान ! कैसा भगवान–किसका भगवान ?

सहेली—किसका नहीं है वह—तुम्हारा···हमारा···

कमला—तुम्हारा चाहे जो हो—हमारा तो कहीं कोई अपना नहीं। टूट गया वह तिलस्म।

सहेली—अरे पगली, तुम्हारा भी है बराबर।

कमला—जानो तुम—हमें तो लगता है कि पंडा पुजारी की दूकान का इश्तहार रह गया है वह···बस···मेरा भी कोई रहता तो ये दिन देखने पड़ते।

सहेली—फिर वही रट !

कमला—(*जोश में*) हाँ-हाँ हजार बार—वह बुत है···बुत—आँख है न कान। उसने कभी सुनी मेरी आह—देखी मेरी तड़प ?

सहेली—तुमने उसे पुकारा ही कब ?

कमला—(*एक आवेश में*) कब नहीं पुकारा ? मगर वह अन्धा बहरा—मारो गोली उस पत्थर को···

सहेली—(*डाँटकर*) होश की दवा करो—यह क्या बके जा रही हो पगली···

कमला—बनो मत, पगली तुम हो जो चंद धर्म-ध्वजियों की भावली में आई हो भगवान की रट लगाने।

सहेली—(*स्नेह से उसके सर पर हाथ रखकर*) क्यों जी छोटा कर रही हो बहिन, देख लेना, तुम्हें भी शरन मिलेगी उसी के चरनों में—

कमला—मिली थी कल न। वह भी तो माता के मन्दिर की ही पौर थी। किसी के कानों पर जूं भी रेंगी ? बस आँखों में वही लालसा की लौ तो रह-रह कर झाँक जाती। उलटे पाँव भाग खड़ी हुई···

सहेली—कहा मान, तुम्हें एक दिन समाज में भी शरन मिल कर रहेगी—भगवान जो हैं सर पर।

कमला—(*कुछ सोचकर*) आदमी के समाज में। नहीं नहीं—आदमी के डाढ़ों में तो आदमी का लहू है आज। जानवर से भी नीचे गिर गया वह। जिसे देखो उसकी आँख में बस आग है, पानी नहीं। दो बूँद भी होता तो मेरी यह दशा होती आज···

सहेली—मगर जहाँ शोला है वहाँ शबनम भी है, विष है तो अमृत भी।

कमला—(*उदास होकर*) मिला हो तुम्हें अमृत···इधर तो विष ही मिला—विष। और जानती हो न, सीपी निकालने के लिये सागर में गोता डालना होता है, वह मेरे बस का नहीं।

सहेली—(*स्नेह से कंधे पर हाथ रखकर*) घबड़ाओ मत, तुम्हें लिये आई हूँ राम के मन्दिर···

कमला—(*कंधे झटक कर पागल की तरह*) क्या कहा··राम ? राम राम ! नाम न लो उस पाषाण का। आग की परीक्षा में खरी उतरी अपनी सीता का जब न हुआ, तो वह मेरा होगा ! मैं तो उस सती के पाँव की धूल बराबर भी नहीं—मेरा कहाँ गुज़र। वह राम तो समाज की मनमानियों, कट्टर रूढ़ियों के हाथ का कठपुतला ठहरा। जैसा जो नचाये वही नाच नाचना ठहरा—समझी···

(*महंत संतसरन जी का प्रवेश—काली मठ के महंत दुर्गादास जी और वकील साहब भी साथ हैं*)

संतसरन०—(*दृढ़ता से*) नहीं नहीं—हमारा राम तो किसी शास्त्र या समाज का पाबन्द नहीं। वह तो निःसंग ठहरा—सबका या किसी का नहीं। और वह सीता का ही पति नहीं, लव का ही पिता नहीं, विश्व का पति है—चराचर का पिता भी। 'गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत्'।

कमला—(*चौंक कर*) तुम्हारा राम ! कौन है··कहाँ है तुम्हारा राम ?

संतसरन०—कहाँ नहीं—क्या लोक, क्या परलोक—क्या अन्दर, क्या बाहर।

कमला—(*चिन्तित मुद्रा में*) मैंने तो कहीं उसे पाया नहीं। होगा कहीं किसी कल्पना की कुलाँच में।

सहेली—महाराज—मिलेगी उसकी पौर पर शरन ?

संतसरन०—तुम्हारा रोआँ-रोआँ उसे ढूँढ़े और वह न मिले—कहीं ऐसा भी हुआ है ?

कमला—कैसे ढूँढ़ें, कहाँ ढूँढ़ें, ढूँढ़ते-ढूँढ़ते तो जान पर आ बनी।

संतसरन०—नहीं नहीं, तुम आ गई उसकी पौर पर। तुम्हारी पुकार सुन ली उसने। मुकुन्द ! मुकुन्द !!

मुकुन्द—जी आया—(*मुकुन्द का प्रवेश*)

संतसरन०—देखो भई—यह शरणार्थी ठहरी—अभी जाकर मन्दिर से मिली-जुली उस कोठरी में···

कमला—मगर मैं जो उस पार के पिशाचों के हाथों लुट चुकी हूँ; झंझोरी गई, रौंदी गई···

दुर्गादास०—सुना न, उधर क्या रवैया है। और तुम हो कि एक वैसी बुर्का वाली हाथ भी आई तो उसे चट माँ-बहिन मान बैठे।

संतसरन०—तुम जाओ, इनकी बातों में मत आओ। हमें उन जल्लादों से होड़ लेना नहीं है। (*मुकुन्द का प्रस्थान*) अच्छा जी! यह अत्याचार तो तुम्हारे शरीर पर हुआ, तुम्हारा क्या?

कमला—(*चिंतत मुद्रा में*) जैसे कि वह अलग है—मैं अलग!

संतसरन०—अवश्य। वह और, तुम और। तुम तो जो हो सो बराबर हो, और वह आज कुछ, कल कुछ। वह मरे या जीये, रौंदा जाय या सजा-सँवारा रहे—तुम्हारा क्या? अपनी पत अपने हाथ है, समझी। देही अलग और देह अलग।

कमला—(*अपने ही से जैसे*) क्या जाने क्या कह रहे हैं! मुझे तो लगता है, मैं ही मर चुकी—मेरी आत्मा भी मर चुकी। जिये जा रही है बस हाड़-मांस की यह देह। यह भी मर जाती तो कितना अच्छा होता।...नहीं-नहीं, भूल हो रही है—इस देह के अन्दर तो एक नई देह—एक नई आत्मा जो पनपने पर आई है। बस ढोये फिरनी है यह शरीर की खाल—यह शवजीवन।

संतसरन०—कहा न, तुम्हारा मन शुद्ध है तो तुम्हारा यह शरीर झंझोर कर कोई क्या बिगाड़ लेगा? तुम्हारा गया ही क्या?

कमला—गया ही क्या? क्या नहीं गया—मान, लाज, समाज, परिवार, सब कुछ! कहीं खड़ी होने की भी जगह है—अपने घर की पौर पर भी?

संतसरन०—घर की पौर! अरे हमारे दिल की पौर पर भी

जगह है तुम्हारी। आओ, देखो हमारे मन्दिर का पट खुला है तुम्हारी जैसी हर पीड़ित—हर सताई हुई प्राणी के लिए। समाज की आँख में पानी चाहे न हो पर भगवान की आँख का पानी तो ढलने से रहा।

कमला—सच! है वह ऐसा उदार—ऐसा दर्दमन्द? आपकी जबान के तले कोई दूसरी जबान हुई तो?

संतसरन०—तुम्हें विश्वास नहीं होता क्या?

कमला—कैसे हो? दूध का जला तो मट्ठा तक फूँक-फूँक कर पीता है—है न? वह भी तो बड़ा दर्दमन्द बनता रहा।

संतसरन०—कौन वह? जानती हो न, बनना और है, होना और।

कमला—मगर पहिचान? सबकी शक्ल सुडौल, बोलचाल मधुर, व्यवहार सुघर, मगर अन्दर कुछ, बाहर कुछ। एक दिन वह था कि देवता, देवता रहे—दानव, दानव। मगर आज? कौन क्या है-कोई क्या कहे, कैसे कहे।

सहेली—कुछ न पूछिये, इस पर क्या-क्या बीती है—वैसी सर-बीतियाँ तो किसी ने न सुनीं न देखीं। बस, वही जानती है जो वह जान रही है बेचारी।

वकील सा०—(इधर मुड़ कर) तो तुम बहुत पहले से ही जान रही हो उसे।

सहेली—कब से नहीं—कहिये? बचपन से ही साथ रहा बराबर। एक दिन वह था कि ज़माना ही उसकी ठोकर पर था जैसे, एक यह हाल है कि दर-दर की ठोकर खा रही है बेचारी। जान के लाले पड़े हैं—लाले।

संतसरन०—ऐसा! क्या-से-क्या हो गई!

सहेली—क्या बताऊँ—क्या थी वह कमला और क्या है यह कमला। पोर-पोर पर क्या ज़िन्दगी थी—क्या ज़िन्दा दिली। और आज? बस, मुर्दनी छाई है रेशे रेशे पर सरासर। हाय राम! तकदीर भी क्या दिखा देती है पल में। वैसे तो वही है वह, वही जमीन,

वही आसमान भी। फिर भी क्या वही है सब कुछ? कहाँ वह और कहाँ यह—वह गुलेनार रंगत, यह रोनी लाचार सूरत।

दुर्गादास०—मगर यह कब की बात कह गई?

सहेली—बस कल की बात है—कल की।

दुर्गादास०—क्या सच! ऐसी थी वह?

सहेली—जो वह फुर्ती, वह चुस्ती कि शहर के बाँके तिरछों के भी होश उड़ रहे हैं। वह रूप-रंग कि जिसने भी एक नज़र देख लिया उसने अपनी नज़र ही नज़र कर दी। बोलती है तो मुँह से फूल झड़ते हैं, चलती है तो इर्द-गिर्द पलकें बिछ रही हैं और मुस्कराती है तो बिजलियाँ खेल रही हैं—बिजलियाँ। आँख वह कि जिस आँख में गई, वह झूम उठी आरती उतारने। गला वह कि कान पर आया नहीं कि कलेजे पर बोल उठा और अपनी आन ऐसी कि किसी खुशामदी नज़र और ज़बान की एक न चली।

कमला—मगर यह सब कुछ रहा तो क्या, भाग्य ही नहीं तो कुछ भी नहीं। हाय क्या दिन थे···यह दिल है कि उमड़ा चला आता है···

वकील सा०—(*सामने आकर*) छोड़ो भी! ऐसा मीठा गला है तो एकाध चीज हमें भी सुना देती—भजन ही सही।

सहेली—मगर दिल जो बैठ गया है—गला उठे कैसे।

दुर्गादास०—तो यह उस ओर किसी बड़े घर की···

सहेली—महाराज, यह कुछ ऐसे-वैसे घराने की नहीं···एक बड़े बाप की बेटी ठहरी—अमीरी में पली। बड़ा-सा बंगला, इर्द-गिर्द हरी लॉन और चमन, कई बड़ी छोटी मोटरें और हाली महाली से भरा घर। आये दिन पार्टियाँ, अंग्रेज अफसरों के जशन। अच्छा से अच्छा खाने को—क्या पुलाव मुतंजन और क्या विलायती लंच और डिनर। एक-से-एक पहनने को—साड़ियाँ और शलवार वह कि शायद महल की रानियों के भी सपने होंगे। और अपनी सज-धज ऐसी कि मेमों

की आँखें भी झिलमिला रही हैं, मजाल क्या कि सामने आँखें मिला सकें—बस, पानी भरें—पानी।

कमला—बस करो, बस। यह हाशिये न चढ़ाओ। तुम्हें तो कविता सूझी है—कविता।

सहेली—कविता तो तुम आप ठहरी—प्रकृति के हाथों की लिखी कविता—जिसकी मिसाल नहीं। हाँ, एक दिन इस कविता में ज़िन्दगी थी—आज तो·· जाने दो···क्या कहे कोई···

वकील साहब—नहीं नहीं, तुम मोतियाँ बरसाये जाओ। भई वाह! यह ज़बान भी क्या चीज़ है!

कमला—आप जानते नहीं! यह एक कवि ठहरी—कवि। क्या कहने इस जबान के। जब सुनिये, होठों पर नई-नई कवितायें फड़-फड़ा रही हैं। वह रंग चढ़ा देती है कि··

सहेली—ऐ लो! जैसे कि मैं कुछ ग़लत कह गई।

कमला—(*शर्म से मुस्कुरा कर*) तो ऐसी मैं कब थी भला··मेरा शिकवा ही कर रही हो न···

सहेली—खैर, इसे छेड़कर तुम्हारे चेहरे पर जरा-सी मुस्कुराहट तो लाई—लाखों पाई।

'मेरे शिकवा करने से वह मुस्कुराये
यहाँ तक तो पहुँचे, यहाँ तक तो आये।'

वकील सा०—वाह! क्या खूब कहा है। देखा, क्या कमाल है ज़बान का जादू—ऐसी दुखिया पर भी एक रंग बिखेर ही दिया।

कमला—नहीं, नहीं यह जले पर नमक है—नमक।

सहेली—नमक नहीं। मरहम कहो—मरहम। तो महाराज, यह मानी हुई बात है कि हर औरत की ज़िन्दगी में एक वह दिन आता है जब वह चाहती है कि कोई उस पर जान दे—दिल निछावर करे। यही तोहफ़ा तो उसकी जिन्दगी का तकाज़ा ठहरा। तो फिर उस उठती जवानी की खुश-नसीबी की कोई क्या कहे, जिसके इर्द-गिर्द नाज़ उठाने को नजरों से नजरें छिल रही हैं और दिल से दिल।

वकील सा०—भई वाह ! क्या कहने इस निखार के...

सहेली—जी, सरकार ! कमला ऐसी खुश-नसीब तो मैंने कहीं देखी नहीं, शायद किसी की कल्पना में भी आने से रही।

कमला—और आज कमला ऐसी बदनसीब भी, है न ? फूल खिलने भी न पाया कि मुरझा कर गिर गया।

सहेली—(*एक झिझक से*) तू बड़ी वो है—छेड़ने से बाज़ न आओगी—लो, मैं होठ सिये लेती हूँ।

संतसरन०—अजी, तुम कहे जाओ। यह ज़िन्दगी तो धूप-छाँह की आँख-मिचौनी ही ठहरी। और आँसू की सिंचाई से तो यह जीवन की बेलि रस पाती है—निखर आती है...समझे ?

वकील सा०—जी, *'सोच कर और भी जी खोना है।*
हो रहेगा वही जो होना है॥

सहेली—तो शहर के नामी गरामी रईसों के साहब-ज़ादे—क्या हिन्दू, क्या मुसलमान—सुबह शाम कमला का दिल बहलाने को हाज़िर। कोई सैर-सपाटे की फरमाइश लिये आ रहा है, कोई ब्रिज की बाज़ी के बहाने। कितनों से तो खानदानी सरोकार भी रहा। दो चार तो कमला के पिता के कारखाने में ऊँचे ओहदे पर भी थे। लाला साहब की जी-हुज़ूरी ही उनकी रोटी रही बराबर। मगर जो है, कमला की नज़र का ताबेदार है—उठ रहा है, गिर रहा है एक इशारे पर जैसे। चाह रहा है कभी कुछ छेड़ना—मगर छेड़ पाता कहाँ है। यह है कि कोई उसपर जान दिये देता है—दे, पर अपनी शान कि किसी को दो घूंट मुस्कान देना भी स्वीकार नहीं। बस, उड़ी चली जा रही है अँगरेज अफसरों की गिरोह में—क्या क्लब, क्या डान्स...खिल रही हैं बाँछें और फड़क रही है बोटी-बोटी।

वकील सा०—मगर ऐसी चौतरफी बौछार में भी वह पैर रोप खड़ी की खड़ी रही गई—यह तो एक अचरज ही....

सहेली—अजी, अपनी आन की बड़ी पक्की जो रही वह। मजाल

क्या कि दामन पर दो छींटें भी आ पायें। बाहर से जैसी भी रही हो रंगीन, अन्दर तो बड़ी संगीन थी वह। आँखों में आँख आई नहीं कि झट उस नज़र की कीमत भाँप ली--कोई कितना भी सर खपाये—क्या क्या न नाज़ उठाये। यह बात और है कि अपनी हम-जोलियों के सीने पर साँप लोटते—साँप। बस रश्क के मारे फुँकी जा रही हैं पल-पल।

दुर्गादास०—तो यह अन्दर की दृढ़ता आई कहाँ से वैसे वातावरण में ?

सहेली—भगवान की देन कहिये। और अपने ही घर के मन्दिर में सुबह-शाम रामजानकी की पूजा-बंदना का असर—जो हो। हमारे लाला साहब विलायती सज-धज के शौकीन चाहे जो रहे हों, उनकी पत्नी तो एक सीधी-सादी पुजारिन रही—पुजारिन।

संतसरन०—तो फिर यह बात-बात मे भगवान का जो धुर्रा उड़ाये जा रही है आज....

सहेली—अपने में है भी वह आज ! दिल टूटा और उखड़ पड़ीं सोच-विचार की कोलें भी।

संतसरन०—हाँ भई, दुख की मार होती ही है ऐसी। आसमान जो अचानक फट पड़ा, सिर फिरे न कैसे ?

कमला—(*उदास होकर*) अब तो सिर्फ एक मौत की उम्मीद बाक़ी है—नहीं तो यह जिन्दगी भी मौत हो जाती।

सहेली—हाँ जी, यह आफत कुछ ऐसी-वैसी थोड़े ही थी। दंगे के वक्त जल्लादों ने घर ही नहीं फूँका, क्या-क्या नहीं जुल्म ढाया·· चीखती-चिल्लाती कमला को भी···

वकील सा०—क्या कहा ? कमला को भी···

सहेली—जी, कमला को भी···

कमला—(*पागल की तरह*) मत कहो, मत कहो।····उन राक्षसों ने··उन पिशाचों ने तो···ओफ़। वह देखो वह—वही रफी आ रहा है·· चाह रहा है—बढ़ा रहा है हाथ·· छोड़ दो, छोड़ दो साड़ी···

(पागल की तरह चीखती हुई सहेली की गोद में बेसुध गिर पड़ती है)

दुर्गादास०—*(घबराकर)* हैं, हैं, बेसुध हो गई क्या ?

सहेली—*(झकझोरती हुई)* कमला ! कमला !!

वकील सा०—कोई बात नहीं। अभी वैद्य को खबर दिये देता हूँ, चक्कर आ गया है—चक्कर !

दुर्गादास०—अजी दाँत छुड़ाओ—दाँत।

संतसरन०—मगर बात क्या हुई—क्यों ऐसी…?

सहेली—भई, घबराने की बात नहीं। थोड़ा-सा पानी लाओ—पानी।

संतसरन०—कुन्दन ! कुन्दन !!

(नेपथ्य से—) जी, आया।

संतसरन०—अरे भई, थोड़ा पानी लाना—चरणामृत भी।

(कुन्दन दौड़कर नेपथ्य से पानी लाता है—सहेली उसे संभाल कर मुँह में पानी देती है—एकाध बूँद चरणामृत भी। कमला आँखें खोल देती है और थकी सी पास की चौकी पर बैठ जाती है। पास ही सहेली खड़ी होकर उसका माथा सहलाती है—कुन्दन लौट जाता है)

दुर्गादास०—अच्छा जी, यह रफी कौन ठहरा…?

कमला—एक नम्बरी लफंगा। लाला साहब का ड्राइवर भी रहा था एकाध साल। लीजिये, एक रात देहात की किसी लड़की को उड़ा लाया मालिक की मोटर से। बात फूट गई—बस जवाब पा गया।

संतसरन०—ओफ़। मनुष्य को मनुष्य होने में अभी सदियाँ लगेंगी—सदियाँ। कितने अवतार, कितने पैगम्बर आये, कितने बुद्ध, कितने तीर्थंकर, मगर मनुष्य का नैतिक धरातल गिरता ही जा रहा है दिन-दिन।

वकील सा०—तो लाला साहब घर पर मौजूद नहीं थे क्या ?

सहेली—ज़रा देर कर आये। उस पल पड़ोस के अंगरेज अफ़सरों के दर पर अपनी नाक रगड़ते रहे, मगर वे हैं कि आँख में पहचान तक नहीं। भूल बैठे उनकी खैरख्वाही की तमाम सनदें, उनके नज़र नेयाज़, उनके डिनर टेबुल की न्यामतें तक। एकाध तो उबल भी पड़े कि जाओ-जाओ, अपने गाँधी और काँग्रेस

का दामन थामो, यहाँ क्या आये हो पनाह माँगने—अंगरेज़ी हुकूमत तो तुम्हें काँटे की तरह खटकती रही न। लो, चखो अपनी नई आज़ादी के मज़े। लाला साहब लाख आँसू छलकाते···गिड़गिड़ाते कि वे तो काँग्रेस की पौर पर सर रखना तो दूर—क़दम तक नहीं रखे, सरकार का ही पल्ला थाम रह गये, मगर लीजिये, पत्थर पर सर फोड़ कर होता क्या—उनकी पुकार की सुनावाई कहाँ थी ?

दुर्गादास०—मगर अपने संगी-साथी मुसलमान भी तो होंगे वहाँ···

सहेली—जी. उनमें भले और बुरे दोनों ही निकले। जो बुरे थे उन्हें तो हाथ में आई हुई शिकार को भंभोर-भंभोर कर मज़ा लूटने की पड़ी थी। जो भले थे उनकी सर-फोड़ी भी कोई असर न ला सकी उन जल्लादों के दिल पर। वह हवा ही ऐसी थी कि जो भी उनकी चाल में रोड़े अटकाने उठा वह खुद लुट गया या कट गया, अपना भाई ही क्यों न हो। बस, अपनी जान की भूख उनके ईमान पर भी हावी हो गई।

वकील सा०—तो आसपास के मुसलमान भी लूट मार में शामिल रहे क्या ?

सहेली—कुछ तो थे ही। कहाँ लाला साहब के आगे कभी आँख न उठा पाते रहे; सिर उठाना तो दूर—हाथ बाँधे, दुम हिलाते खड़े रहते। लीजिये, डर छूटा और बस भेड़ से भेड़िये हो गये खूँखार।

संतसरन०—हाँ भई, भय है तो मनुष्य मनुष्य है, भय छूटा और पशुता की छूट हो गई, टूट चलीं मनुष्यता की सारी कड़ियाँ। बस भय ही मुख्य है, सत्य है, इस धरातल पर। वह न हो तो न जाने क्या न हो रहे—वह भूचाल, वह प्रलय···

वकील सा०—सो क्या महाराज ?

संतसरन०—देखो न, डर है तो ईश्वर है, धर्म है, नीति है, प्रीति है, समाज या सरकार की स्थिति भी। तो भय की

भीति पर ही सारी सृष्टि ठहरी—लोक-परलोक दोनों। और डर नहीं तो पशुता का नंगा नाच है सरासर।

सहेली—मगर उसी मुहल्ले में एक गाँधीवादी मुसलमान भी रहा—भगवान भला करे उस भले-मानस का—जो अंग्रेजी सरकार के भक्त लाला साहब की आँखों में काँटे की तरह चुभता रहा एक दिन। उसी ने कुछ दिनों के बाद अपनी जान पर खेल कमला को जल्लादों के पंजे से छुड़ा पाया और बेचारी इधर आ सकी।

दुर्गादास०—अच्छा जी! लाला साहब का क्या हाल है आज?

सहेली—अपने माँ-बाप बचे कहाँ। सब स्वाहा। हाँ एक चचा ठहरे—दस भाई बिरादर भी, मगर कमला तो उनकी आँखों की किर-किरी हो रही है आज। यह बेचारी तो तवे से छूट कर आंच में आ पड़ी है जैसे। बस थुई-थुई हो गई है उसकी।

संतसरन०—अच्छा जी, तुम राय साहब लाला गुलज़ारी लाल को तो जानती होगी, शायद?

सहेली—जानती नहीं—वही तो कमला के चचा ठहरे।

संतसरन०—क्या सच! तुम्हें पता है—वह आज कल यहीं पड़ोस में···

सहेली—सब पता है, मगर कमला तो अपना पता खो बैठी है—और उसे लापता होने में ही अपनी पत की पनाह हो तो····

कमला—महाराज! समाज का डर जो हावी है उन पर—नहीं तो··

संतसरन०—समझ गया। मनुष्य के लिये समाज नहीं, समाज के लिये मनुष्य है—मनुष्य की आहुति।

सहेली—जभी तो अपने सगे भाई-बन्धु भी स्वीकार करने को तैयार नहीं। कौन इस कलंक को माथे पर ढोये—अपनी शराफत पर आँच लाये?·· ऐसी जाने कितनी हैं जो मारी-मारी फिर रही हैं दर-दर—कोई पुरसां हाल नहीं—आस-पास नहीं। इसकी, उसकी, सबकी टेढ़ी भौं की चुभन ही सहनी पड़ती है बराबर।

संतसरन०—ओह ! क्या दिन आ गये आज।

सहेली—जो भी है वह तोते की तरह आँखें फेर लेता है। हाँ, जो आता है आँखों में आँसू छलकाये, पनाह देने, वह तो भेड़ की खाल में भेड़िया ठहरा—भेड़िया। चाहता है इन्हीं के मत्थे रोजगार का पैसा···आखिर इनको शीशे में उतार लेना कोई बड़ी बात नहीं। ऐसा नादिर मौक़ा क्या फिर हाथ आने को है। तो लीजिये, हमारी मुसीबत क्या आई उनकी कौड़ी चित आई जैसे।

संतसरन०—ओफ ! ऐसा ?

सहेली—जी, देखिये न, यह कैसी टूट गई है बेचारी। कहाँ आज आसमान से सितारे लोढ़ अपनी चोटी सजाती, कहाँ यह हाल है कि रोआं रोआँ ढूँढ़ रहा है··· पुकार रहा है मौत।

संतसरन०—मगर भाई मेरे, यह मरना जीना तो किसी के हाथ नहीं। हाँ, हंसना-रोना तुम्हारे हाथ ठहरा···अब हँस के गुज़ार दो या रो के गुज़ार दो, खुशी तुम्हारी

—जैसी मरजी राम की, तुलसी होइ हैं सोइ।
जी चाहे आनन्द रह, जी चाहे रह रोइ ॥'

आखिर दुख से तो कोई बरी न हुआ न होगा। यही उतार-चढ़ाव, धूप और साया तो हर जिन्दगी का नक्शा ठहरा।

कमला—*(आँखों में आँसू भर कर)* फिर भी ऐसा, महाराज···

संतसरन०—यह क्या है, कोई हद है इसकी ? आँखें उठाकर दुनियां को देखो तो आप बीती का पता न चले। जानती हो न 'दर्द का हद से गुज़रना है दवा हो जाना।'

वकील सा०—अच्छा जी, तुमसे क्या सरोकार ठहरा—आखिर कहाँ लिये जा रही थी इसे ?

सहेली—बस, एक नेह का नाता। दूर का रिश्ता भी है। चाह रही हूँ कि यह झांझर नैया किसी घाट लग पाती—भँवर में पड़ डूबने पर जो आई है आज।

कमला—*(उठकर एक आवेश में)* नहीं-नहीं, मुझे डूबने दो···

डूबने दो अतलतल—मेरे लिये कोई घाट नहीं, कोई पनाह नहीं।

संतसरन०—भला यह भी कोई बात है ?

कमला—(*उसी तरह जोश में*) जी ! पुरुष तो चाहे कुछ भी करे उसकी तो छूट है—सौ खून माफ़। मगर बेचारी अबला ! कहीं पुरुष की वासना के हाथों उसका खून भी हो जाय तो खूनी वही ठहरी। क्या समाज और क्या धर्म, कहीं भी उसके हृदय की पूछ नहीं—इन्साफ़ नहीं। मन-बुद्धि या अन्दर की शुद्धता-अशुद्धता का कोई मोल नहीं। वह चाहे या न चाहे, होश में हो या बेहोश, इससे कुछ आता जाता नहीं। बस देह लुट गई तो वह भी गई। यह शरीर की जंजीर ही नारी की जागीर है आज।

संतसरन०—हाँ भई, यही हठधर्मी तो इस देश को ले डूबी।

कमला—मगर आप भी तो सोचते ही, कहते ही भर न हैं—महात्मा गाँधी की तरह विचार और व्यवहार का समन्वय तो नहीं।

संतसरन०—अजी, यह न होता तो तुम इस मन्दिर की पौर पर आ पाती ? जानती हो न...यह राम का मन्दिर है—वह राम जिसने पत्थर को भी छूकर देवता बना दिया।

कमला—तो सच, आप मुझे मन्दिर में खड़े होने की जगह देंगे ?

संतसरन०—खड़े होने की क्या, आज से यहाँ की पूजा-बन्दना, राग-भोग आरती— सब कुछ तुम्हारे हाथ रही और अपनी श्रद्धा की धार से प्रभु के चरनों को धोती रही तो तुम्हारी सद्गति ही नहीं, शान्ति भी धरी रखी है...कहीं उसकी मर्जी हुई तो तुम्हारे सर पर सिन्दूर आते भी देर न होगी...

कमला—तो महाराज, मन्दिर के अन्दर जरा दर्शन कर पावी मैं।

संतसरन०—हाँ-हाँ जरूर, अन्दर जाओ, दर्शन कर लो। कुन्दन ! कुन्दन !!

(*नेपथ्य में*) *जी आया।*

संतसरन०—देखो, लिये जाओ इनको, दर्शन चाहते हैं।

कुन्दन—आओ बहिन ! इधर आओ।

कमला—बड़ी कृपा, किसी और मन्दिर में तो खड़े होने की भी ठौर नसीब नहीं।

(कुन्दन के साथ कमला और सहेली जाती हैं)

संतसरन०—क्या बताऊं वकील साहब ! एक बेकसूर की ऐसी सज़ा—ऐसी दर्दनाक दुर्दशा हो और हम आँखों पर ठीकरी रखे आराम से मंदिर में बैठ रामजानकी की माला जपा करें। भई, वाह ! क्या कहने हैं इस निःसंगता के...इस धार्मिकता के ..

वकील सा०—मगर चारा ! कमला का उबार तो बस मौत के हाथ ठहरा। हमारे साथ तो एक बदला है जो आप जैसे भावुक संतों के मान का नहीं।

संतसरन०—*(सोचकर)* नहीं नहीं—क्या ऐसी बिगड़ी है जो बन न पाई—बस दिल चाहिये, अक्ल भी। है न ? आखिर किसी मुश्किल को हल ही न कर पाया तो अपने पौरुष की पैठ क्या ? संभव-असभव तो अपनी हिम्मत और हुनर का मापदण्ड ठहरा....

वकील सा०—ऐसे आप जो कहिये, मगर मैं तो चाह कर भी कोई राह देख नहीं पाता हूँ। भला समाज से लोहा कौन ले। बुद्धि तो जवाब दे बैठी है, करुणा अकेली सर पीट कर क्या करे ? उठ उठकर बैठ जाती है बस।

संतसरन०—*(आवेश में)* अजी, तुम चाहो तो आज ही यह बेड़ा पार हो जाय, पलट जाय इसकी ज़िन्दगी दो पल में।

वकील सा०—अच्छी बात है, कहे जाइये।

संतसरन०—बस, तुम में से कोई कमला को अपना लेवा।

वकील सा०—*(चौंक कर)* क्या कहा ? अपना लेता !

दुर्गादास०—*(व्यंग्य से मुस्कुराकर)* लीजिये, बिल्ली के भाग से छींका ही टूटा।

वकील सा०—*(मुँह बना कर)* अच्छा जी, जैसी मर्जी—कोई उसे रख ही लेगा।

संतसरन०—यों नहीं, उसके सर पर सिंदूर रख कर।

वकील सा०—और वह अपना सर ओखली में दे बैठे ?

संतसरन०—तुम्हारा सर तो ऊँचा ही उठता है, कहते क्या हो—वह ठहरी भी एक ऊँचे घराने की...

वकील सा०—जब थी, तब थी। आज तो जो है, सो है—और इस शरीर से तो किसी अच्छे घराने की पौर पर जा चुकी।

दुर्गादास०—अजी, वह किसी वैसे शरीफ घर की होती तो यों अपने कलंक को दर-दर ढोये फिरती ? उस पार जा चुकी होती कभी की। कितनी वैसी बहू बेटियाँ तो कुए में कूद जान दे बैठीं—कुछ ठिकाना है ? मान ही न रहा तो फिर जान क्या...

संतसरन०—मगर तुम्हें पता है न, वह तुम्हारे मित्र रायसाहब गुलजारी लाल के घर की कोई लड़की ठहरी—अब तुम्हारे रहते वह बेचारी यों लुट जाय ··

दुर्गादास०—मैं कहता हूँ—रायसाहब दस के सामने आकर उसे स्वीकार कर लें तो जो चोर की सजा वह मेरी सजा।

वकील सा०—(*जोश से*) देंगे वह कन्या-दान अपने घर ले जाकर शास्त्र-विधि से ? लीजिये, मैं ही उसे स्वीकार करने को तैयार हूँ।

दुर्गादास०—अजी, विवाह तो खैर ताक़ पर रखो। पति तो पति, उस आने वाले तुरकी पूत का पिता कौन होगा ? हाँ गाने-नाचने में चरफर निकली तो जोड़ तोड़ लगाकर थेटर या सिनेमा में गुजर हो जाना कोई बड़ी बात नहीं।

सतसरन०—(*सोचने की मुद्रा में*) अच्छा भई, सोचने दो ·· तब तक वह इसी मन्दिर में···

दुर्गादास०—मन्दिर में ! यह क्या अनर्थ कर रहे हो ? मन्दिर तो कोई भठियारे की सराय नहीं। कल अहमद की बीबी चँवर डुलाती रही, आज यह एक दूसरी आई है आरती उतारने—अब ऐसे ही पतितों के हाथों भगवान की ··

संतसरन०—ये पीड़ित हैं—पतित नहीं। पतित तो हम होंगे अगर किसी पीड़ित या दलित की सेवा से हाथ सिकोड़ बैठें। कहा न, देही को देखो, देह को नहीं।

दुर्गादास०—फिर वही रट। अपनी सनातन पद्धति की तमाम मान्यताओं को ताक़ पर रख छोड़ा···

संतसरन०—(*मुस्कुरा कर*) अजी, तुम्हारे सामने उन सड़ी-गली मान्यताओं का तकाज़ा जो हो, मेरे सामने तो करुणा की यह जीती-जागती···बोलती प्रतिमा···

दुर्गादास०—तो फिर अपने यहाँ जो शुद्ध-अशुद्ध, छूत-अछूत—क्या-क्या भेद-भाव सनातन से शास्त्र का वचन बन कर आया है—वह बस यों ही····

संतसरन०—जी, वह शास्त्र और शरीअत के दिन गये। युग की हवा का रुख देख कर हर कोई अपनी नाव पर पाल बदल देता है। निरन्तर गति ही जन-जीवन की विभूति ठहरी। टूट चली वह परंपरा की किलेबन्दी आज—आज न कोई द्विज है न शूद्र, जो है वह वही है जो सब है। आज यह छूत-अछूत, माला-तिलक या शिखा सूत्र का कोई महत्त्व नहीं। इस नग्न सत्य से आँख क्या मीचना?

वकील सा०—(*चौंककर*) कोई महत्त्व नहीं?

संतसरन०—जी, कोई महत्त्व नहीं। अजब नहीं कि दो दिन बाद यह पता पाना भी मुश्किल होगा कि कोई क्या है—हिन्दू, मुस्लिम, क्रिस्तान या बौद्ध—चूँकि धर्म की लौ अन्दर होगी, बाहर नहीं। जानते हो न, चीन के अन्दर एक ही परिवार में पति है बौद्ध तो पत्नी ईसाई और पुत्र मुसलमान। मगर मजाल क्या कि आपस के मेल-जोल पर कोई आँच आये···तो वह दिन दूर नहीं जब यह पाठ-पूजा या नमाज-फातहा भी··

दुर्गादास०—(*गर्म होकर*) यह क्या ओटे जा रहे हो भला!

संतसरन०—यही कि आज की नई पीढ़ी की नस-नस में नई तड़प है—नई करवट। इस नवीन चेतना के

स्पन्दन—इस युग की माँग को कहीं हमारा धर्म अपने में समेट न सका···लिये रह गया वही कट्टर रूढ़ियों का मोहजाल तो अजब नहीं कि मौत के कगार पर खड़ा है वह—कोई घड़ी का मेहमान। वह दिन दूर न होगा कि मन्दिरों के गिरे-पड़े खंडहरों के घूरे पर कीड़े रेंगेंगे—कीड़े। कीच-कादो में सनी लिसी टूटी-फूटी मूर्तियों के सर पर···जाने दो ···भगवान न करे, वह दिन आये—हमारा धर्म अपने अध्यात्म, अपने आत्म-भाव का पल्ला थाम विश्व-चेतना की दृष्टि पर चरम कल्याण का प्रकाश बन कर जगमगा उठे····

दुर्गादास०—यह क्या अपनी ही हाँके जाते हो—अपने मुँह मियाँ मिट्ठू···मैं पूछता हूँ, तुम्हारी इस आध्यात्मिकता की कहीं पूछ भी है आज ?

संतसरन०—यह क्या कह रहे हो तुम। हमारी कहीं पूछ है तो इसी के कारण। और कहाँ नहीं पूछ है—क्या यूरोप, क्या अमेरिका। जड़वादी पच्छिम लिये रहे अपना एटम बम, अपना छलबल कौशल—सब कुछ। हम दुनियाँ की दौड़ में पिछड़े ही सही, हमारा एक मात्र सम्बल तो यही आत्मबल ठहरा। यही आध्यात्मिकता ही तो हमारी अमरता की आधार शिला ठहरी, नहीं तो रोम और ग्रीस की तरह भारत भी काल के कवल में जा चुका होता।

वकील सा०—हाँ महाराज, बात तो बड़े पते की है आपकी।

संतसरन०—बस, अपने धर्म का मर्म देखो—उसके बाहरी रूप रस्म नहीं। और रस्म तो आज कुछ है, कल कुछ। नित्य है वह मर्म।

दुर्गादास०—तो आखिर वह मर्म है क्या ?

संतसरन०—अपने को औरों में देखो और औरों को अपने में। यही अभेद तो हमारे वेद-वेदान्त का केन्द्र ठहरा। हाँ, यह नज़र तो आते-आते आती है—'वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः'। तो मानवता का तकाजा पहले है, यह काशी और काबा

पीछे। और सतह पर तो धर्म की रूपरेखा बदलती ही आई है बराबर।

वकील सा०—सो कैसे ?

संतसरन०—तुम उसकी बुनियाद ही लो। हमारी मूल प्रवृत्ति तो ठहरी आत्मरक्षा। इसी से भय आया। और सृष्टि के आदिकाल से मनुष्य ने सामने की प्रकृति के जिस-जिस रूप या रंग को असाधारण पाया—सूर्य, चन्द्र, आग, पानी, हवा—उससे डरता गया, लगा उसे देवता मान पूजने।

वकील सा०—तो क्या भय और भक्ति ऐसी मिली-जुली ठहरी ?

संतसरन०—जी, भय से ही भय-मोचन का कारबार चला। यों आत्म-रक्षा का दामन थामे स्वार्थ-साधना भी आई और वह लगा अपने परिवार—अपनी जायदाद के लिये जी-उड़ेल दुआ माँगने। तो इसी भय··इसी स्वार्थ के चलते देव आया, दानव आया, भूत आया, प्रेत आया और आये धर्म के कितने अलंकार और उपकरण—पाप-पुण्य, छूत-अछूत, नरक स्वर्ग, यज्ञ-जप, मन्दिर-तीर्थ और जाने कितने विधि-निषेधों के सिलसिले कि कहीं अन्त नहीं।

वकील सा०—तो फिर वेदान्त या आत्म-ज्ञान··

संतसरन०—हाँ, ज्यों-ज्यों बुद्धि निखरती गई, सूझबूझ की प्रगति आई त्यों-त्यों धर्मान्धों की टोली में इन प्रपंचों के प्रचार पर रद्दे पर रद्दे चढ़ते रहे—नई-नई रीति, लम्बी-लम्बी पद्धति। दूसरी ओर अपनी अनुभूति का पल्ला थाम चिन्तन और मनन आया—भक्ति, ज्ञान और योग के ऊँचे स्तर निखरे और मनुष्य दृश्य से दृष्टि फेर लगा द्रष्टा की ओर झुकने··लो, क़तरा दरिया में जा मिला।

दुर्गादास०—तो फिर यह मूर्ति की उपयोगिता ?

संतसरन०—मूर्ति तो एक प्रतीक है, या यों कहो हमारे मनो-योग का एक अवलम्ब—एक आसान अन्यतम साधन—ज्ञानार्जन के लिए जैसे अक्षर।··यह संसार है

क्या ? नाम और रूप। यह दोनों ही तो बराबर तुम्हारे सामने हैं। हाँ, वह सत्य तो इन दोनों के परे है। वहाँ तक पहुँचने के लिये किसी एक का सहारा तो लेना ही पड़ता है। रूप की टेक लेकर अरूप को पाना है, नाम के सोपान से अनाम के बाम तक उठना। तो जान रखो, जो दुनिया की तरफ से अचेत है वही सचेत है निरन्तर।···बिना अपने अन्दर गहरे डूबे तो वह जौहर हाथ आने से रहा···

वकील सा०—मगर महाराज! यह अन्दर के मंथन के लिये आज किसके पास समय है या सामर्थ्य ?

संतसरन०—हाँ जी, जिनके साथ आठों पहर उठते-बैठते यह दुनियाँ है—यह हँसना रोना, यह अपना पराया, उनके लिये तो एक आसमानी सहारे का पल्ला अनिवार्य ठहरा। वह न हो तो वह कहीं का न रहे। अब जैसी जिसकी निष्ठा या सूझ-बूझ होगी वैसी ही उस सहारे की रूपरेखा होगी, ऊँच या नीच, मूर्त या अमूर्त और सगुन या निर्गुन। अपनी सम्भावना, अपनी शक्ति के सोता का तो उसे पता नहीं—करे क्या बेचारा ?

वकील सा०—तो आप की अपनी रुझान किधर है—एक सगुन करुणानिधान की ओर या वही निर्गुन, निर्विकल्प···

संतसरन०—(*सोचते हुए*) अरे भई! हृदय के साथ तो अपनापन का ही तकाज़ा ठहरा, बुद्धि के साथ विचार या तर्क। दिल तो रमता है, ढूँढ़ता है एक वैसा अपना ···'शरणं सुहृत्', जिसके साथ गहरी ममता हो; मगर बुद्धि के धरातल पर तो अध्यात्म ही दिखता है जीवन का सत्य। हाँ, उस सत्य का निविड़ संधान तो अनुभूति ही जुगा पाती है—बुद्धि भी वैसी नहीं।

वकील सा०—जी, यही तो बात ठहरी।

संतसरन०—हाँ भई, यह अन्दर का पट खुलना तो आसान नहीं। जो दुनियाँ का गिरफ्तार है, उसे वह अन्तर का आधार नसीब कहाँ। उसका तो एक निस्तार है

बस—ईश्वर में अटूट विश्वास। अपने माने जाने सर्व शक्तिमान पर करुणा-निधान के चरनों में—वह समक्ष हो या परोक्ष—अपने को और अपने सब कुछ को दोनों हाथों उड़ेल कर रख देना। भई, यह शरणागति भी क्या चीज़ है! डर गया, चिन्ता गई। लो, खुलते-खुलते उसकी आँख खुल ही जाती है, जो कुछ है सब वह है, और जो कुछ है सब उसका है। फिर क्या? वह लगता है अपने प्रभु को चराचर में देखने।

वकील सा०—यह तो बड़ी बात है महाराज!

संतसरन०—और क्या? अब रही मनुष्यता की माँग, तो यह तो मनुष्य योनि की विरासत.. नहीं नहीं, मनुष्य योनि पाने की पहली शर्त ठहरी—इस सत्य की उपेक्षा नहीं की जा सकती, नहीं की जानी चाहिये। जब आदमी के लिये आदमी की आँख में पानी नहीं, आदमी के लिये आदमी के दिल में नर्मी नहीं तो फिर वह आदमी कैसा?...दो पाया पशु है—पशु।

वकील सा०—महाराज, आज हमारी आँखें खुल रही हैं—आप ठहरे हमारे धर्म गुरु, हमारी रीति नीति के पथ प्रदर्शक भी। बस, जो रास्ता दिखायें, उसे अपनाने से मुँह न मोड़ेंगे हम—आखिर 'महाजनो येन गतः स पन्थाः।'

संतसरन०—*(सोचकर)* हाँ, आज की जैसी परिस्थिति में पहला मोर्चा तो हमें ही लेना है, हमारे ही सर पर यह दायित्व ठहरा। बस, जैसे हो तुम्हें रास्ता दिखा कर रहेंगे...मुकुन्द! मुकुन्द!!

(जी आया : नेपथ्य से मुकुन्द की आवाज़)

(मुकुन्द का प्रवेश)

संतसरन०—मुकुन्द! तुमने देख ली कमला की बेबसी, सुन ली उसकी आप बीती?

मुकुन्दजी—जी महाराज।

सतसरन०—तो बस आँख और कान खोल रखो—समझे। वह दृष्टि भी क्या जो किसी के रूप रंग पर ही इठ-

लाती रह गई, उसके हृदय तक नहीं उतरी। और तुमने घर बैठे लन्डन की भी सुन ली तो क्या यदि किसी पड़ोसी, किसी पीड़ित के दिल की धड़कन अन-सुनी ही रह गई।

मुकुन्द—महाराज, सच मानिये—मैं देख रहा हूँ, सुन रहा हूँ...

संतसरन०—तो तुम्हारी अनुभूति जाग उठी, सुन रही है समय की नाड़ी का स्पन्दन...यह लुटी हुई, झंझोरी हुई मानवता की कराह भी। देखो भई! त्याग ही हमारे जीवन का संचय ठहरा, सेवा ही हमारी उपासना—आज हजारों ऐसी नारियाँ होंगी अनगिनत, जो इस देश के विभाजन की देन ठहरीं...कितनी तो संभव है, अपने चोले में नये चोले के अंकुर लिये आई होंगी—हमारी आँखों में ऊँगलियाँ डाल दिखा देने कि लो आज ही तुम्हारी धार्मिकता...तुम्हारी मान-वता की जाँच है...

दुर्गादासजी—मगर नीलकण्ठ की तरह उस विष को पीकर पचा डाले कोई—ऐसी सत्ता तो...

संतसरन०—हम में है...तुम में है। किसमें नहीं! और वही विष पलट कर अमृत न हो गया तो अपना स्वत्व क्या?...हाँ मुकुन्द, तो जान रखो कि पीड़ित कभी पतित नहीं। उनका स्वागत तो हर साधु सन्त का भी व्रत है आज। जीवन के संघर्ष से दामन छुड़ा-कर हिमालय की कन्दराओं में बैठ राम-राम जपने के दिन न रहे...क्या ही अच्छा होता कि वे कर्म-योग का पल्ला थाम मैदान में उतर पाते—ऐसे दुखियों के उबार का रास्ता दिखाते...यही आत्मदान तो उनकी मुक्ति का सोपान होता...

दुर्गादासजी—भला ऐसा कहीं हो सकता है?

संतसरन०—क्यों नहीं? आज की जैसी स्थिति में तो लोक सेवा से मुँह मोड़ एकान्त साधना या निवृत्ति का सेवन तो कोरा पलायन है—पलायन।...तो मुकुन्द तुम्हें हिन्दू समाज के सामने कर्तव्य का एक आदर्श

रखना है वाकि वह नई चेतना की लहर से जाग उठे—अपनी खोई हुई सम्भावनाओं को ढूँढ़ ले।

मुकुन्द—महाराज ! जो आदेश हो...सर देकर भी...

संतसरन०—नहीं, नहीं ! मैं तुमसे सर नहीं माँगता हूँ—हृदय माँगता हूँ। यह बेचारी तो मरने पर आई है—समाज उठा है उसे ज़िन्दा दफनाने...अब मरी तब मरी। बस सर पर सिंदूर रख उसमें नई जान डाल दो... साथ-साथ हमारी जनता की भी आँखें खोल दो कि पुरानी रूढ़ियों को ताक पर रख ऐसों को खुशी-खुशी अपना पायें···

दुर्गादासजी—क्या कहा—उस कलंकिनी के सर पर सिन्दूर ? मुकुन्द का अपना सर भारी हुआ है क्या ? अच्छा होता कि यह बला तुम अपने ही सर उठा लेते।...

संतसरनजी—भला मुकुन्द और हम कुछ दो थोड़े ही हैं।

दुर्गादासजी—तो फिर सीधी सी बात ठहरी—तुम्हीं क्यों नहीं अपनाते। जनता की आँखें भी खुल जातीं कि उनके गुरु महाराज कैसे बड़े धर्मात्मा...

संतसरन०—रहो भी। तुम तो अपने संस्कार के ताबेदार ठहरे। भला युग और जीवन की प्रगति से आँख मूंद हर परम्परा की तरफदारी ही रही तो फिर बुद्धि की उपयोगिता क्या···खाक।

वकील सा०—तो यही धर्म का तकाज़ा है आज।

संतसरन०—जी। हमारे प्रभु की प्रेरणा भी। आखिर वह धार्मिकता भी क्या जो करुणा को गले न लगा पाई—बस रह गई अपनी सधीबदी लीक लिये···

मुकुन्द—तो जैसी आज्ञा, मैं तैयार हूँ।

संतसरन०—तो आओ—मन्दिर में आओ—भगवान के सामने ही···

[संतसरन जी जाते हैं, वकील साहब भी साथ हैं। मुकुन्द भी ज्यों जाने को मुड़ता है त्यों दुर्गादासजी लपक कर कंधा थाम लेते हैं]

दुर्गादास०—हाँ भई, तुमसे एक जरूरी बात है।

[मुकुन्द को साथ लिए दूसरी ओर से जाते हैं।]

तृतीय अङ्क

तृतीय दृश्य

[मन्दिर का भीतरी बरामदा]

(मुकुन्द की बाँह थामे दुर्गादास जी आते हैं)

दुर्गादास०—तुम! तुम मुकुन्द—तुमसे तो ऐसी आशा न थी—

मुकुन्द—मुझे भी अपने से ऐसी आशा कभी न होती—शायद स्वप्न में भी नहीं ।

दुर्गादास०—तो फिर यह कैसे क्या···

मुकुन्द—कुछ न पूछिये, तूफानी लहरों का वह रेला···दिल का तकाजा ही कुछ ऐसा उठा कि संस्कार ने हथियार रख दिये। उसकी पीड़ा जो हावी हो रही है मुझ पर। अपनी ही लगने लगी है वह जाने कैसे।

दुर्गादास०—मगर तुम्हें पता है कि उसके अन्दर क्या गुल खिलने जा रहा है।

मुकुन्द—(चौंक कर) क्या कहा ?

दुर्गादास०—उसी से क्यों नहीं पूछते कि वह क्या लिये आई है तुम्हारे गले मढ़ने···

मुकुन्द—(*उसी आवेश में*) गले मढ़ने !

दुर्गादास०—जी, गले मढ़ने। तुम्हीं न उठे हो उसकी बाँह गहने। वह बला तुम्हारे सिर चढ़ा देगी कि बस साँप छुछुन्दर की गति होकर रहेगी तुम्हारी। तुम एक पतित के पति ही नहीं पिता भी हो रहे हो बराबर। लीजिये, दोनों हाथ लड्डू।

मुकुन्द—(*घबराया हुआ*) कैसा पिता–किसका पिता···

दुर्गादास०—एक म्लेच्छ···यवन का····अपने अन्दर साँप का बच्चा जो पाल रही है वह।

(दुर्गादास जी ठहाका मार कर हँसते हैं, मुकुन्द के पैर तिलमिला उठते हैं)

मुकुन्द—(घबराया हुआ) ऐसा ?

दुर्गादास०—(व्यंग्य से) जी, जले पर नमक।

मुकुन्द—मगर महाराज को तो पता होगा।

दुर्गादास०—क्यों नहीं। सब कुछ पता है। मगर तुमसे साफ खुलें तब न। उन्हें तो पड़ी है कि किसी हीले तुम्हारे सर इस बला को···जी समझे—

(श्री संतसरनजी का प्रवेश—वकील साहब भी साथ हैं)

संतसरन०—तुम किसकी सुन रहे हो—उनकी। उनका इन्सान तो मर चुका है। हाँ, ज़बान पर धर्म की दुहाई तो खूब है, उसकी सचाई की पहचान दो बूँद नहीं। और करुणा···धर्म की प्राण धारा तो उनके हिस्से आई ही नहीं जैसे···

मुकुन्द—मगर यह भार पर भार। रह रह कर लगता है जी कैसा सा···

संतसरन०—नहीं नहीं—अपने अन्दर के शैतान की घुसफुस न सुनो, भगवान का आश्वासन सुनो। कहा न, हमारे अन्दर दोनों ही ठहरे—देव और दानव दोनों। एक जाल डालता है, दूसरा काल भरता है—समझे। यों अपने ही हाथों उठना है, अपने ही हाथों गिरना भी···रहा बच्चे का भार, तो वह हमारे सिर रहा, हमारी गोद में उसका लालन पालन होगा—प्रभु के चरणों में बढ़ वह बड़ा होगा—देख लेना। आज ऐसे हजारों बच्चे होंगे जो अब हमारे अंश होकर रहेंगे, हमारे हवा पानी में खुल खिलेंगे निरन्तर···

दुर्गादास०—मगर रहे तो वह वही विधर्मी।

संतसरन०—कदापि नहीं। किसी धर्म को लेकर कोई पैदा नहीं होता। वह तो आते-आते आता है जिस हवा पानी में पला वह। जन्म से न कोई हिन्दू है न मुसलमान और न क्रिस्तान, बस जिस वातावरण में वह बढ़ा, सयाना हुआ—वही उसका प्रिय है, वही उसका

पथ्य। यह बात और है कि आगे चलकर वह जिस धर्म की लीक ले—खुशी उसकी।

दुर्गादास०—मगर मुसलमान या क्रिस्तान की सन्तान तो हमारी पाँति में आने से रही।

संतसरन०—ऐ लो! कितने आये, आ रहे हैं—तुम्हें पता भी हो। आखिर रामकृष्ण मिशन की शाखायें कहाँ नहीं—क्या यूरोप क्या अमेरिका। और यह थियोसफी क्या है? हमारे अध्यात्म का ही एक सामयिक संस्करण—समझे। मैं पूछता हूँ, एनी-बेसेन्ट, बहिन निवेदिता या मीरा क्या थीं और क्या हो रहीं—आखिर उन पर तो हमारे धर्म को भी नाज़ है आज। है न?

वकील सा०—जी, आपने तो आज मुझे भी अपना बना लिया। आपकी बात ने मेरे अन्दर सोये हुए भगवान को जगा दिया जैसे। लगता है कि हम दूसरे ही कोई हो रहे—कहीं दृढ़ ··· कहीं सजग। बस, उठ गया आँखों से वह मोह का पर्दा।

दुर्गादास०—अरे तुम भी उठे ऐसे भ्रष्टाचार की वकालत करने···

वकील सा०—अजी, भाव शुद्ध है तो फिर आचार क्या···

मुकुन्द—बस, लिये रहिये अपना आचार। दुनियाँ उजड़े या बसे, कोई मरे या जिये, कोई वास्ता नहीं आपको। हम आचार भ्रष्ट ही सही, मगर विचार भ्रष्ट कौन है—कभी सोचा है इस पहलू पर?

दुर्गादास०—भई, तुम्हारा धर्म जो डूबता है—तुम्हारा कुल भी···

मुकुन्द—अजी डूबता नहीं—डूबते को उबार रहा है वह। यही हमारे धर्म, हमारे कुल का तिलक है आज

दुर्गादास०—(*तैश में*) अच्छा जी, समाज तुम्हें ठुकरा न दे तो हमारे नाम कुत्ता पाल देना—हाँ···

मुकुन्द—समाज हमें ठुकरा देगा—ठुकराये, मगर उस डर से हम अपने कर्तव्य से मुँह मोड़ बैठें—ऐसे नीच डरपोक हम नहीं····

संतसरन०—और युग की ठोकर पर समाज भी है—देख लेना। गरीब की आह आज नहीं तो कल ऐसे बेदर्द समाज का धुर्रा न उड़ा दे तो हमारे नाम···जाने दो। कौन तुम्हारे मुँह लगे।

दुर्गादास०—(*व्यंग्य से*) तो लो, वकील साहब, रास्ता तो खुल रहा है—तुम भी एकाध पर हाथ साफ करो अब।

वकील सा०—आप अपना दिल तो साफ करें। हमने हाथ साफ किये या न किये—कोई बात नहीं।

संतसरन०—चलो मुकुन्द···मन्दिर में चलो, देर नहीं।

वकील सा०—(*दुर्गादास जी की ओर मुड़ कर*) चलिये महंत जी, आप भी तशरीफ ले चलिये।

संतसरन०—हाँ भई आओ, तुम्हारा भी तो आशीर्वाद चाहिये।

दुर्गादास०—क्या आयें—तुम्हारे मन्दिर का तो रवैया ही कुछ अजीब हो रहा है।

मुकुन्द—सो क्या ?

दुर्गादास०—यही कि जो कोई ज़रा वैसी-सी इस पौर पर आई नहीं कि लीजिये मुँह माँगी मुराद पा गई—वह कैसी है, क्या है, कहाँ की है, कोई पूछ नहीं।

संतसरन०—हाँ भई ! यहाँ कोई भी वैसी दुखिया आई नहीं कि···

दुर्गादास०—ऐ लो ! मैं ने दुखिया कब कहा ?

संतसरन०—बनो मत। कोई और कब आयेगी यहाँ शरन ढूँढ़ने···अब आओ—मन्दिर में आओ।

दुर्गादास०—इस पाप में साझीदार होने···

संतसरन०—अजी पाप के मुँह पर चाँटा देने—जुल्म और अन्याय का गला घोंटने—समझे।

दुर्गादास०—मगर सनातन का यह अपमान—तुम्हीं सोचो, मुकुन्द की क्या गत होकर रहेगी आज।

संतसरन०—भई, 'आज' के हाथों वह कलंक जो पाये, 'कल' के हाथों वह तिलक पायगा—तिलक। दुनियाँ उसके हृदय और हिम्मत की हामी होगी—देख लेना।

वकील साहब—(*व्यंग्य और मज़ाक की मुद्रा में*) अजी, दुनियाँ

उसका नाम न चूमे तो लीजिये हमारे ही नाम पिल्ला पाल देंगे आप।

मुकुन्द—और यह सनातन का अपमान नहीं, इसी समझौते में ही उसका मान है—साथ-साथ भविष्य का निर्माण भी।

वकील सा०—अजी हिन्दू जाति का त्राण भी कहिये—है न?

संतसरन०—आखिर समय की देन परिवर्तन से डर कर पुरानी परम्परा को ही ऊँट की पकड़ लिये रहना तो अपने हाथों अपना ही गला घोंटना है आज।

दुर्गादास०—अच्छा जी—तुम्हारे ही गले जयमाल रहे···जैसी तुम्हारी खुशी।

संतसरन०—हाँ भई मुकुन्द, मन्दिर में चलो···तैयार आना—समझे।

(मुकुन्द का प्रस्थान)

संतसरन०—*(वकील साहब की ओर मुड़कर)* हाँ भई वकील साहब, अब आप थोड़ा सा कष्ट स्वीकार करते···

वकील सा०—जैसी आज्ञा।

संतसरन०—बस, राय साहब गुलजारी लालजी को मेरी ओर से हाथ जोड़ बुला लाते तो बड़ी बात होती। अब तो आँखें चुराने की कोई वजह नहीं—समझिये आप···

वकील सा०—जा रहा हूँ···देखिये···चाहिये तो आना। कमला की तो काया ही पलट रही है अब—उनकी शान पर तो धब्बा रहा नहीं।

संतसरन०—और क्या! वह उतरा हुआ पानी लौट न आया तो उसकी कृपा की क़ीमत ही क्या रही।

(आकाश की ओर हाथ उठाकर 'इस कृपा' का संकेत देते हैं)

तृतीय अंक

चतुर्थ दृश्य

[मन्दिर में सिहासन पर रामजानकी की मूर्ति । एक ओर कमला और मुकुन्द खड़े हैं भगवान की ओर आँखें उठाये—कमला की चूनर बासन्ती, जूड़े में फूलों का हार; माथे पर बिन्दी, गले में गजरा । मुकुन्द की पीली धोती चादर । दोनों के चेहरे पर प्रसन्नता की लहर, हाथों में फूलमाला । रामदास जी खड़े गा रहे हैं—नेपथ्य से हारमोनियम और तबले की ध्वनि]

'मेरे प्रभु हिय की गत निरखो ।
जो सीता रघुकुल की लक्ष्मी
रावन हाथ परयो,
पर उस पर कछु आँच न आई
जब हिय शुद्ध खरो ।
देह लिये कछु आत जात नहि
कोइ धरि लाख दल्यो—
भलो बुरो सब मन पर निर्भर
तन पर नाहि धरो ॥
प्रभु की शरन गहो जब जियते
बिगरी बात बन्यो ।
अन्तर्यामी कृपासिधु हरि
हिय की हाय हरो ॥

[गाना समाप्त होता है—श्री राम दास जी वहीं भगवान के सामने सर झुकाकर प्रणाम करते हैं और धीरे-धीरे नेपथ्य में चले जाते हैं]

कमला—तो तुम मुझे उठा लोगे—सच ? मरते-मरते भी जो उठी मैं—कहाँ सिर चीरती रही कि यह सूखी जिन्दगी तो फिर हरी होने से रही।

मुकुन्द—भगवान सामने हैं—तुम्हें विश्वास नहीं होता। मैंने महाराज को अपनी स्वीकृति···

कमला - मगर तुम्हारी अपनी मर्जी—अपनी खुशी···बोलो, वही सब कुछ है मेरे लिये···

मुकुन्द—हाँ, आज मेरा अपना जीवन भी मेरी निगाह में कहीं प्रिय है—कहीं सार्थक। अब तक तो वह जैसे छन्द हीन था—एक निबाह। तुम क्या आई, मेरी जिन्दगी ने नई जिन्दगी पाई। यह मन्दिर, यह पेड़ पौधे, यह फूल पत्ते अब क्या से क्या दिख रहे हैं—कितने सुन्दर, कितने प्रिय···तुम अपनी लगने लगी तो ये भी कैसे अपने बन गये।

कमला—(*एक आवेश में*) ऐसा ? धन्य हो प्रिय, तुम धन्य हो ! आज भगवान ने यह दिन दिखाया कि एक मनुष्य देख रही हूँ मैं। तुम न होते तो आज मैं कहाँ की होती—कहो।

(*कमला झुकना चाहती है मुकुन्द के चरणों पर सर रखने—उसी समय श्री संतसरन जी का प्रवेश—उनके पीछे दुर्गादास जी भी हैं*)

मुकुन्द—हैं हैं—यह क्या—महाराज के चरनों पर सर रखो—यह उन्हीं का आशीर्वाद है जो···

(*कमला संतसरन जी की ओर मुड़ती है*)

कमला—महाराज, मैं तो आज जीवन का एक अनमोल मोती पा गई···

संतसरन०—(*हँसकर*) सो क्या ?

कमला—यही कि दुख पाना ही इस जीवन में अपने चरम कल्याण का सोपान पाना है। मैं न दुख में डूब अपना पता खोती, और न आप ऐसे सहृदय का पता पाती—न मुकुन्द ऐसे प्रिय का··

संतसरन०—और न हमारे प्रभु ऐसे सदय···समदर्शी का—है न ?

कमला—महाराज, मैं अपने राम को भूल बैठी थी, क्या-क्या न कहती रही। कोई बात उठा रखो ? मगर प्रभु ने मेरी लाज रख ली—कल क्या थी, आज क्या हो रही···

संतसरन०—अब उस बीते हुए कल को न देखो, आने वाले कल को देखो—यही लक्ष्य है, यही मंज़िल···समझी। जब प्रभु की शरन में आ चुकी तो फिर सब कुछ उसी के चरनों में उड़ेल बैठो, यही तुम्हारी राह है—तुम्हारी पनाह भी।

कमला—कोई दस दिन हुए जब मैं इधर अपने चचा को ढूँढ़ती आई—आपका नाम सुना···आपका चमत्कार सुना। तब से···तभी से आप के दर्शनों की भूख सताती रही—आज मेरी मुराद बर आई। देख लिये मैंने, आप आदमी नहो—देवता हैं···देवता।

संतसरन०—नहीं, मैं क्या हूँ—कुछ नहीं। बस इधर आओ—उसके चरनों पर सर रखो जिसने मेरे अन्दर नई प्रेरणा दी—नई चेतना भी।

(राम जानकी की मूर्ति की ओर इशारा)

(सहेली का प्रवेश; दौड़ कर कमला के गले लग जाती है)

सहेली—देखा न, अपनी किस्मत का करिश्मा।

कमला—नहीं नहीं, उसकी रहमत का करिश्मा कहो।

(भगवान की ओर हाथ उठाकर दिखाती है)

सहेली—जो हो, बात तो एक ही रही।

(वकील साहब और राय साहब का प्रवेश—आते ही भगवान की ओर सर झुकाते हैं।)

संतसरन०—आइये राय साहब, आइये—आप ही का तो इन्तज़ार रहा। लीजिये, हरि इच्छा बलवती····कमला का बेड़ा पार है आज···

[कमला दौड़कर राय साहब के कदमों पर झुकती है—पुकारती है—एक आवेश में]

कमला—चचा ! चचा !!

रायसाहब—*(सर पर हाथ रख आशीर्वाद देते हुए)* खुश रहो, फूलो फलो। *(संतसरन जी की ओर मुड़ कर)*

महाराज, आपने इस मरी हुई हिन्दू नारी में नई जान डाल दी, उसकी लुटी हुई लाज अपनी सत्ता के बल पर वापस मंगा दी···ओहो कितने बड़े·· कितने ऊँचे आप ठहरे। कहाँ मैं आपको हिन्दू धर्म, हिन्दू जाति का शत्रु समझ रहा था—और हमी क्या···यहाँ भी कितने···

संतसरन०—मगर मेरी निगाह पर तो एक पीड़ित व्यक्ति थी बस, कोई धर्म या जात नहीं। उस दिन भी मैंने देखी थी एक शरणार्थी अबला—उसका मजहब या पेशा नहीं। और माफ करना, आज भी आप मुझे हिन्दू धर्म का शत्रु ही मानते—अगर कमला आपकी ऐसी अपनी न होती···

रायसाहब—सो क्यों महाराज ?

संतसरन०—चूँकि आपकी निगाह में वही विधि निषेधों की परम्परा का पालन ही धर्म है। आपकी करुणा उसी परम्परा की तीलियों पर ही पंख फड़फड़ा कर दम तोड़ देती है। कहाँ आज की जैसी स्थिति में उसका आँख मूँद सेवन एक घोर अधर्म··एक जुल्म से कम नहीं। आखिर धर्म की मूल भित्ति तो अपनी संवेदना···अपनी अनुभूति ठहरी··कोई पाठ पूजा या शुद्ध अशुद्ध की पद्धति नहीं। वह पद्धति तो आज कुछ है कल कुछ।

रायसाहब—जी, मेरी आँखें खुल गईं···ओह ! ऐसी कृपा···· ऐसी करुणा !····हम क्या दें इस भलाई के बदले...

संतसरन०—बस एक दान। आज से अपने दिल से बदला की भावना उठा दें, करुणा रखें। जान रखिये, हमारी सद्भावना ही फल कर रहती है—देर चाहे जो हो। और हम दाता को जय कहें····

रायसाहब—(*सोचकर*) समझे न, वकील साहब, क्या माँग रहे हैं यह।

वकील सा०—जो भी हो, आज तो आप को देना ही है (*संत सरन जी की ओर उंगली उठाकर*) आपही ठहरे इस

विवाह के पुरोहित; कन्यादान के अवसर पर पुरोहित को यह दान न देंगे आप ?

रायसाहब—अच्छा भई, यही सही। अभी जाकर ठाकुर साहब को कहे देते हैं कि अपनी सेना बरखास्त—धावा बोलना बन्द।

संतसरन०—भगवान भला करे आपका—दाता की जय। बस, याद रखिये, बदला से कोई ऊँचा नहीं उठता, वह ऊँचा उठता है क्षमा से। और पद या पैसा से कोई बड़ा नहीं होता, वह बड़ा होता है अपनी करुणा से। जो दिल का बड़ा है वही बड़ा है···अच्छा भई! *(दुर्गादास जी की ओर मुड़कर)* तुम क्यों ऐसे खड़े हो, तुम्हें भी तो आशीर्वाद देना ठहरा।

दुर्गादास०—*(सर झुका कर)* साथी संगी देही रहे हैं—मैं क्या अलग हूँ।

संतसरन०—नहीं-नहीं, तुम ठहरे ऐसे अपने···सारी दुनियाँ एक ओर और तुम एक ओर।

(हाथ जोड़ कर खड़े हो जाते हैं)

दुर्गादास०—*(सोचते हुए)* तो क्या दूँ···ढूँढ़ रहा हूँ, चीर रहा हूँ सिर···

संतसरन०—नहीं-नहीं। सिर नहीं, दिल ढूँढ़ो—दिल। वह जो दे वही उपहार है इस शुभ अवसर पर।

दुर्गादास०—तो लो, आज से अहिंसा ही रही अपनी दिशा भी। वह बलि की पद्धति समाप्त कर दी।

संतसरन०—भगवान भला करे तुम्हारा···दाता की जय। आओ कमला, इधर आओ—

(कमला को मुकुन्द की बाईं ओर ले जाकर खड़े करते हैं—चादर से आँचल का छोर बाँध देते हैं) लो, ऐसे ऐसे उपहार क्या आये, इस विवाह के चमत्कार में चार चाँद लग गये।

वकील सा०—बस, यह जोड़ी जीये, फूले-फले—अपनी तो यही प्रार्थना है, यही तमन्ना।

संतशरन०—और तुम दोनों की यह शुभदृष्टि सभी की आँखों में समदृष्टि की ज्योति बने, तुम्हारा यह मिलन हर आत्मा का आत्मा से मिलन का मंगल सूत्र, और भाई मेरे, युग-युग बनी रहे यह खुली नज़र की बानगी हमारे धर्म की धुरी भी। *(इसी समय कमला मुकुन्द को और फिर मुकुन्द कमला को जयमाल पहनाते हुये एक दूसरे की ओर प्रेम और स्मिति से भरी हुई नज़र से देखते हैं। उन पर फूलों की वर्षा के साथ-साथ यवनिका-पतन होता है)।*

*